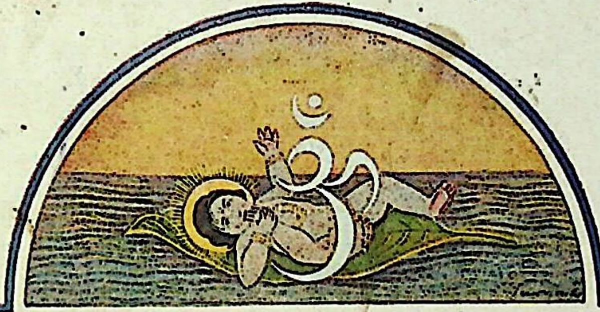
ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥



अच्युत

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥

वर्ष ६ } आश्विन १९९६ { अङ्क ९

संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रतिका—॥)

[नोट—दूकानदारों तथा स्थायी ग्राहकोंके लिए २५ % कमीशन काटकर ४॥) वार्षिक]

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, अध्यक्ष, जो० म० गोयनका-संस्कृत-महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, काशी ।

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष ६ } काशी, आश्विन १९९६ { अङ्क ९

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

श्रीभगवत्स्तुतिः

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः ॥ १ ॥

त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः ।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः ॥ २ ॥

त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी ।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥ ३ ॥

गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः ।
को न्विहाऽर्हति विज्ञातुं प्राक् सिद्धं गुणसंवृतः ॥ ४ ॥

तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।
आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः ॥ ५ ॥

यस्याऽवतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः ।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसङ्गतैः ॥ ६ ॥

स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च ।
अवतीर्णोऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥ ७ ॥

नमः परमकल्याण नमः परममङ्गल ।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥ ८ ॥

अनुजानीहि नौ भूमंस्तवाऽनुचरकिङ्करौ ।
दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात् ॥ ९ ॥

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायाम्
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे ।
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥ १० ॥

—श्रीमद्भागवतस्था

बृहदारण्यकवार्तिकसार

अनुवादक—म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदी

विषय-सूची

श्रुतिः—मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥ १ ॥

उपमर्दन होनेसे विद्यादशामें कार्यके साथ अविद्याकी उपपत्ति ही नहीं हो सकती। उक्त विरोध वे लोग नहीं समझ सके, अन्यथा वे ऐसा कहनेका साहस भी नहीं कर सकते, अतएव—

'यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।
कां गतिं विद्यया यान्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा॥
एतद्वै श्रोतुमिच्छामि तद्भवान् प्रब्रवीतु मे।
एतावन्योन्यवैरूप्ये वर्तेते प्रतिकूलतः॥'

इत्यादि प्रश्नके उत्तरमें यह कहा है कि नित्य और अनित्य दो प्रकारके फल हैं। नित्य फलका साधन संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान है और अनित्य फलका साधन कर्मयोग है। इसमें अवान्तर विशेष यह है कि ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमोंके उचित कर्मोंका अनुष्ठान करके अन्तमें जो संन्यास लिया जाता है, वह आश्रमानुक्रमसे होता है और जो ब्रह्मचर्य्यावस्थासे ही विरक्त होकर संन्यासका ग्रहण किया जाता है, वह व्युत्क्रमसंन्यास कहा जाता है। फल दोनोंका समान ही है। केवल अधिकारीके भेदसे उनका भेद है। वस्तुतः चित्त-शुद्धि अपेक्षित है। जिनका चित्त अशुद्ध रहता है, उनको चित्तकी शुद्धिके लिए अन्य आश्रमका ग्रहण करना आवश्यक है, जिनका चित्त जन्मान्तरके कर्मानुष्ठानोंसे ही शुद्ध हो चुका है, उनके लिए ब्रह्मचर्य्य आदि आश्रमोंसे ही संन्यासका ग्रहण करनेकी विधि है। विशेष विस्तर-भयसे छोड़ देते हैं॥ ६॥

'मैत्रेयीति होवाच' इत्यादि श्रुति। आख्यायिका श्रुतिका अक्षरार्थ यह है कि जब महर्षि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने संन्यास लेनेका दृढ़ संकल्प कर लिया, तब अपनी प्रिय भार्या मैत्रेयीको संबोधित किया।

शङ्का—क्यों?

समाधान—भार्य्यासे अनुज्ञा लेकर ही संन्यासका ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा नहीं। सारांश यह है कि विवाहके समय पतिपत्नीका अग्निसाक्षिक परस्पर संबन्ध स्थापित होता है। उसमें यह शर्त रहती है कि कोई किसीसे छिपाकर ऐहलौकिक या पारलौकिक कर्म न करे। विशेषतः स्वमात्रगामी फलके लिए अनुज्ञा लेना

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति, नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥ २ ॥

आवश्यक है। संन्यासका फल मुक्ति है। वह केवल महर्षिको ही होगा, मैत्रेयीको नहीं। इसलिए उनकी अनुज्ञा लेना आवश्यक है और उनकी रक्षाका पूरा प्रबन्ध उनके विश्वासके अनुसार करना चाहिए। इसलिए उनका आमन्त्रण (आह्वान) किया। उनके समीपमें आनेपर उनसे कहा कि ['अरे' यह संबोधन है] अब मैं इस गृहस्थाश्रमसे ऊपर ऊँचे संन्यास आश्रममें जाना चाहता हूँ। इसलिए इस समय तुम्हारा कात्यायनीके साथ (इस नामकी उक्त महर्षिकी द्वितीया भार्य्या थी) पहले विभाग करना चाहता हूँ अर्थात् अभीतक मेरे उपार्जित धनमें तुम लोगोंका साक्षात् स्वत्व नहीं था, मेरे आश्रमान्तरका ग्रहण करनेपर इस धनमें तुम लोगोंका सत्व होगा। संभव है कि उस समय धनके लिए तुम लोगोंमें परस्पर विवाद हो, ऐसी दशामें विज्ञ भी कष्ट पाते हैं और धन नष्ट कर देते हैं अर्थात् दूसरेके अधीन हो जाता है, इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम दोनोंको यथाविधि विभक्त कर दूँ और उसीके अनुसार भविष्यमें धनका स्वार्थके लिए उपयोग करना, जिसमें परस्पर कलह न हो और अन्य आश्रमका ग्रहण करनेपर तुम लोगोंके व्यवहारसे मुझे परिताप न हो। शास्त्रकी आज्ञा भी है कि 'वृत्तिभिः संविभज्य स्वान् संन्यसेत्' अर्थात् आत्मीय पुत्र, कलत्र आदिकी वृत्तियोंका—जीवनसाधन द्रव्योंका—विभाग करके संन्यास ग्रहण करना चाहिए। मैत्रेयीने उत्तर दिया कि भगवन्, आप ठीक कहते हैं, देश, काल, अवस्था और ज्ञानके अनुरूप ही आपकी आज्ञा है। यदि आप शास्त्रके आदेशका पालन न करेंगे, तो दूसरेसे क्या आशा? ठीक है, अब आप हम लोगोंके कर्तव्योंका उपदेश दीजिये।

शङ्का—याज्ञवल्क्यको यदि संन्यास लेना ही था, तो ले लेते। द्रव्यका विभाग वे दोनों आपसमें ही कर लेतीं अथवा साथ ही रहतीं, विभागकी कोई आवश्यकता न थी।

समाधान—'भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाऽधनाः स्मृताः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥'

इत्यादि शास्त्रसे धनमें स्वतः उनका अधिकार नहीं है। अधिकार तब होगा जब उनको विभक्त करनेवाला मिलेगा और दूसरा कारण 'धनका विभाग करके

ज्ञानादेवाऽमृतत्वं स्यादविद्याध्वंसमात्रतः ।
अमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तसाध्येन कर्मणा ॥ ७ ॥

ही संन्यासका ग्रहण करना चाहिए' इत्यर्थक शास्त्रकी भी आज्ञा है। इसलिए विभाग करना अत्यावश्यक है। उसपर मैत्रेयीने उत्तर दिया कि ठीक है, संन्यास जैसे आपके लिए हितकर है, वैसे ही हम लोगोंके लिए विभक्त धन हितकर है। यद्यपि 'स्त्रियो वैश्याश्च शूद्राश्च येऽपि स्युः पापयोनयः' इत्यादि श्रुतियोंसे स्त्रियां अशुचि मानी गयी हैं, अतएव धन पानेपर भी जीवननिर्वाहमात्र कर सकूँगी उसके द्वारा कोई धर्मकार्य्य कर विशेष स्वहितके साधन करनेकी आशा नहीं है, ऐसी शङ्का मुझे होती है, तथापि वह ठीक नहीं है, कारण कि महानुभावका संसर्ग परम उन्नतिका कारण होता है। जैसे नालीका गन्दा जल गङ्गाजीके संबन्धसे परम पवित्र हो जाता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है, वैसे ही आपके संसर्गसे पापात्मक स्त्री भी परम शुचि है, अतः प्राप्त धनसे अपना हित कर सकती हूँ, इसमें सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु मैं आपसे यह पूछती हूँ कि यह संपूर्ण पृथिवी धनसे परिपूर्ण होकर यदि मिल जाय, तो क्या मैं मुक्त हो जाऊँगी ? महर्षिजीने नहीं, ऐसा उत्तर दिया और कहा कि जैसे धनसे अन्य धनियोंका जीवन-निर्वाह होता है, वैसे तुम्हारा भी जीवन-निर्वाह होगा, मोक्षकी तो आशा भी नहीं, क्योंकि धनसे जैसे दूसरेकी मुक्ति नहीं होती, वैसे तुम्हारी भी नहीं होगी ॥ १,२ ॥

'ज्ञानादेवा०' इत्यादि। ज्ञानसे ही मोक्ष होता है। विद्याका अविद्याके साथ विरोध है। 'तत्त्वमसि' आदि प्रमाणोंसे जनित विद्यासे अविद्याका ध्वंस होता है। अविद्यासे ही नित्य स्वात्मरूप मोक्ष तिरोहित रहता है। पिधानभूत अविद्याकी निवृत्ति होनेसे स्वतःसिद्ध मोक्ष अभिव्यक्त होता है। वित्तसाध्य कर्मसे मोक्षकी आशा नहीं की जा सकती। यद्यपि श्रुतिमें 'वित्तेन' यह पाठ है, तथापि उसका भाष्यकारने वित्तसाध्येन कर्मणा, ऐसा अर्थ किया है, इसका अभिप्राय यह है कि केवल स्वरूपसे वित्त तो सांसारिक सुखादिका भी कारण नहीं होता; किन्तु किसी क्रियाके द्वारा ही कारण होता है, इसलिए मोक्षके प्रति भी स्वरूपसे वित्त कारण होगा, यह शङ्का भी नहीं हो सकती, इसलिए भाष्यकारने वित्तशब्दकी वित्तसाध्य श्रौत, स्मार्त आदि कर्मजातमें लक्षणा कर शङ्का-समाधानकी उपपत्ति की है।

शङ्का—यदि मोक्षसाधन वित्त नहीं है, तो आप क्यों देते हैं ?

न कर्म कारणं मुक्तेर्नोऽग्निस्तापस्य भेषजम् ।
कर्मभ्यो जन्म नियतं जन्म चेन्निर्वृतिः कुतः ॥ ८ ॥

समाधान—जैसे धनियोंका सूखपूर्वक जीवन होता है; वैसे ही तुम्हारा भी होगा ॥ ७ ॥

कर्म मुक्तिके प्रतिकूल है; यह स्फुट करते हैं—'न कर्म' इत्यादि ।

कर्म मुक्तिका कारण नहीं है, किन्तु वन्धका कारण है, क्योंकि कर्मसे जन्मका होना नियत है, फिर उससे मुक्ति कैसे होगी ? 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः', 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इत्यादिसे और 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' इत्यादि श्रुतियोंसे जन्म-प्रबन्धविच्छेद ही मुक्ति है, ऐसा कहा गया है, वह जन्मके कारणोंसे कैसे हो सकती है ? अग्निसे ताप होता है, जो तापकी शान्ति चाहता है, उसके लिए अग्निका सन्निधान तापनिवृत्तिका उपाय नहीं कहा जा सकता, किन्तु अग्निका परिहार ही तापशान्तिका साधन हो सकता है । मैत्रेयीने कहा कि स्वभावतः महात्माओंकी प्रवृत्ति जब अपकारीके प्रति हितकारिणी होती है, तब भक्त जनोंके प्रति हितकारिणी होती है, इसमें तो कहना ही क्या ? किन्तु यह मेरे ही अपराधोंका फल है, जो आप महानुभाव भी अनन्य मादृश भक्तोंके प्रति अहितोपदेशमें ही प्रवृत्त हुए । यदि आप ऐसा करेंगे, तो दूसरा कौन मेरा हितचिन्तन या हितोपदेश करेगा ? मैं आपकी अनुरूप अनन्य-भक्त प्रिय सती भार्या हूँ । मेरी कामनाओंको अपूर्ण कर केवल धनका प्रलोभन देकर आप संन्यास कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? अगर वित्तसे भी मोक्षकी संभावना हो, तो आपके लिए उसका त्याग करना उचित नहीं है । यदि वित्तसे मुक्तिकी संभावना नहीं है, तो मैं उसको लेकर भी क्या करूँगी ? यदि मेरी सेवाओंका कुछ प्रभाव हो या मुझ असहायके ऊपर अनुग्रहकी इच्छा हो या स्वतः उपकार करनेकी दया हो, तो मेरा भी वैसा ही उद्धार कीजिये जैसा कि आप अपना करना चाहते हैं । मैं भी वह जानना चाहती हूँ जिसे आप जानते हैं । आपके तपःप्रभावसे मैं उस साधनमें सफल हो सकती हूँ, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है । जिस विज्ञानको पाकर आप चिरप्रिय धनको निर्मम होकर त्याग रहे हैं, वही ज्ञानरूपी धन हमको भी दीजिये । जिस धनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है और भोगसे जिसका कभी क्षय नहीं होता, वही धन कृपया दीजिये । आप अनन्तवित्त हैं, फिर विनाशी (अन्तवान्) वित्त मुझे क्यों देते

हैं ? दाताके सदृश ही दान होना चाहिए। असदृश दानसे दाताकी ख्याति भी नहीं होती। दानसे वह धन उपभोगके समान क्षीण नहीं होता, चाहे जितना आप देते जायँ, किन्तु अनवरत दान करनेपर भी उसका परमाणुमात्र क्षीण नहीं हो सकता और अनन्यभक्तका उद्धार भी हो जायगा। अतः उसी धनको देनेकी कृपा करें, यही चरणोंमें असकृत् प्रार्थना है। महर्षिजीने उत्तर दिया—प्रिये, सत्य है; धन देनेका मेरा अभिप्राय यह था कि जो सांसारिक फलोंसे निवृत्त नहीं हैं अर्थात् सतत सांसारिक ही फल चाहते हैं, वे इस धनके पानेके अधिकारी नहीं हैं। अतएव मेरी इच्छा रहनेपर भी वे इस धनको नहीं पा सकते और न मैं दे ही सकता हूँ! इस धनके पानेका अधिकार उन्हींको है, जो सब फलोंमें निवृत्ततृष्ण हैं, अतएव मैंने तुम्हारी परीक्षा की कि तुम इस धनसे सन्तुष्ट हो सकती हो या नहीं। अब मुझे यह मालूम हो गया कि तुम सब सांसारिक फलोंसे पराङ्मुख हो, इसलिए मैं अत्यन्त हर्षके साथ उस उत्तम धनको तुम्हें देता हूँ, तुम प्रसन्नचित्तसे उसका ग्रहण करो, मैं तुम्हारे स्वभाव, शील और भाषणसे बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ। प्रायः ऐसे अवसरोंपर स्त्रियां स्वभावसे प्रतिकूल भाषण किया करती हैं। परन्तु तुम पूर्ववत् इस अवसरपर भी अनुकूल और मधुर ही भाषण करती हो, जैसा कि शास्त्रमें लिखा है—

'कुशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
पूजनीयः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाऽऽचरेत् किञ्चिदप्रियम्॥'

अर्थात् सुन्दर स्वभावसे हीन, कामी, गुणोंसे रहित कैसा भी पति क्यों न हो साध्वी स्त्रीको उसकी देवके समान पूजा ही करनी चाहिए। पतिलोकको चाहनेवाली स्त्री जीवित या मृत पतिके लिए कुछ भी अप्रिय काम न करे।

सब लोग मोक्षमें प्रवृत्त पुरुषका त्याग कर देते हैं, कोई भी साथ जानेको तैयार नहीं होता, लेकिन मुझमें तुम्हारी इतनी अधिक भक्ति है कि इस अवस्थामें भी तुम मुझे छोड़ना नहीं चाहती हो। मेरा वियोग तुमको असह्य प्रतीत हो रहा है, इसलिए यह धनविभाग भी तुमको पसंद नहीं है। मुक्तिमें भी साथ ही रहना चाहती हो। साधारण स्त्रियोंसे तुम्हारी तुलनाकी तो संभावना ही नहीं है। पार्वतीजीसे भी तुम प्रकृष्ट प्रतीत होती हो। श्रीमहादेवजीके प्रेमवश उनकी आधी देह हो गई, अर्द्ध देह

श्रुतिः—सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ३ ॥

हरकी है और तुमको आधा भी अंश मेरे रहित अभीष्ट नहीं है। इसलिए मुक्ति-दशामें सर्वथा ऐक्यकी प्रार्थना करती हो। सारांश यह है कि महार्षिजी मैत्रेयीका वैराग्य देखकर नितान्त संतुष्ट हुए और यह विश्वास शिथिल हुआ कि ब्रह्मज्ञानके योग्य वैराग्य हमको ही है। अब महार्षिजी समझ गये कि स्त्री और पुरुषका भेद इसमें अपेक्षित नहीं है। योग्य मैत्रेयीको ब्रह्मोपदेश देना आवश्यक है, ऐसा संकल्प कर बोले—हम तुमारी वैराग्यभावनासे नितान्त सन्तुष्ट हैं, अतएव मोक्षसाधन आत्मज्ञानका उपदेश देना चाहते हैं। तुम निदिध्यासन अर्थात् चित्तको एकाग्र करो। चित्तकी एकाग्रताके विना यह उपदेश फलदायक नहीं होता। 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इस योग सूत्रसे यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि मनका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे ही होता है, अन्य उपायसे नहीं। 'मनःसमाधानरूप कार्य्यसे मैत्रेयीका वैराग्य पूर्णरूपसे प्रमाणित हो जायगा, शाब्दिक वैराग्यसे चित्त एकाग्र नहीं हो सकेगा। यह विषय अतिगम्भीर है, इसका कहना और सुनना अतिकठिन है। वस्तुतः यह वाग्का विषय नहीं है, जिससे कि व्युत्पन्नको शब्द द्वारा लौकिक विषयके समान अनायाससे कोई समझा सके। इसके विषयमें यह ठीक ही कहा गया है—'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' इत्यादि। 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्'। हिरण्यगर्भलोकपर्य्यन्त जो उत्कृष्ट फल हैं, उन सब फलोंसे पुरुष जबतक विरक्त न हो जाय, तबतक उसकी बुद्धि शुद्ध ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिके लिए योग्य नहीं होती और जबतक ऐसी बुद्धि न हो, तबतक वह अधिकारी नहीं होता। दृष्ट-नष्टस्वभाव होनेसे यद्यपि 'घटीयन्त्रके समान' सतत प्रवृत्त जन्ममरणप्रबन्धमें स्वतः ही वैराग्य है, इसमें वैराग्यार्थ विशेष उपदेशकी आवश्यकता नहीं है, तथापि इसमें धर्मादिहेतुक राग शास्त्रतः और आपाततः विवेकियोंको भी स्वतः उत्पन्न हो जाता है, अतः कर्मानुष्ठान द्वारा शुद्धात्मा ही इस संसारसे विरक्त होता है, वस्तुतः कर्मभोगवासनावश पुरुषका संसारमें अनुराग होता है। निष्काम कर्मानुष्ठानसे शुद्धबुद्धि पुरुषको ही वैराग्य होता है ॥ ८ ॥

'स होवाच मैत्रेयी' इत्यादि श्रुति। जिस धनसे मैं मुक्त न होऊँगी, उसको लेकर मैं क्या करूँगी। मुक्तिका साधन जो आप जानते हैं, उसीको मुझसे कहिए ॥ ३ ॥

द्विविधः कर्मसंन्यासः फलसाधनभेदतः ।
फलाय ज्ञानिनस्त्यागो जिज्ञासोर्ज्ञानसिद्धये ॥ ९ ॥
ज्ञानित्वाद् याज्ञवल्क्योऽयं जीवन्मुक्तिफलेच्छया ।
चित्तविक्षेपबहुलं गार्हस्थ्यं त्यक्तुमिच्छति ॥ १० ॥
गृहस्थ एव जनको जीवन्मुक्तोऽस्ति यद्यपि ।
धीस्वास्थ्यातिशयोऽथाऽपि सर्वकर्मत्यजोऽस्ति हि ॥ ११ ॥

'द्विविधः' इत्यादि । संन्यास दो प्रकारका है—एक फलका (मोक्षका) साधन और दूसरा मोक्षकारण ब्रह्मज्ञानका साधन । ज्ञानियोंका कर्मत्याग मोक्षका साधन माना जाता है । जैसे याज्ञवल्क्यका कर्मत्यागके विना कर्मानुष्ठानकालमें गृहावस्थामें भी अर्थात् संन्याससे पूर्वमें भी ज्ञान था ही । यदि संन्यासको ही ज्ञानका साधन मानें, तो यह अर्थ होता है कि संन्यासके बिना ज्ञान ही नहीं होता, पर ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि संन्याससे पूर्व भी याज्ञवल्क्य पूर्ण ब्रह्मज्ञानी थे । यह बात जनककी सभामें प्रसिद्ध हो चुकी थी । इसलिए श्रीयाज्ञवल्क्यजीका कर्मसंन्यास फलके लिए माना जाता है, मोक्षसाधन ज्ञानके लिए नहीं । यदि कर्मसंन्यासको केवल फलका ही कारण मानें, तो मैत्रेयीके प्रति जो वित्तसाध्य कर्म त्याग कहा गया है, वह व्यर्थ हो जायगा । यदि कर्मत्याग ज्ञानसाधन है, तब तो ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए वह आवश्यक होता है । कर्मत्यागके दोनों फल स्पष्ट दिखाई देते हैं, इसलिए उक्त व्यवस्था परम आवश्यक है ॥ ९ ॥

'ज्ञानित्वाद्' इत्यादि । वक्ष्यमाण उपदेशसे याज्ञवल्क्य ज्ञानी है, इसमें सन्देह नहीं । अतः उनका कर्मत्याग ज्ञानके लिए तो कह नहीं सकते और कर्मत्याग किया अवश्य है, इसलिए यही मानना पड़ेगा कि उनका कर्मत्याग फलार्थ है, फल प्रकृतमें जीवन्मुक्ति है, उसीके लिए कर्मत्याग है । यह तो अनुभव सिद्ध है कि कर्मका अधिकार गृहस्थाश्रममें है । यह कर्म—क्रिया—करना अवशिष्ट है, इस कर्मका साधन उपस्थित है, इसका अभी संचय करना है इत्यादि चिन्ताओंसे चित्त एकाग्र नहीं रह सकता । आत्मसुखानुभव जो जीवन्मुक्तिदशामें होता है, वह चित्तकी एकाग्रतामें ही होता है, विक्षेपमें नहीं होता, इसलिए गृहस्थाश्रम उक्त सुखानुभवके प्रतिकूल है, अतएव उसका त्याग करना अभीष्ट है ॥ १० ॥

'गृहस्थ' इत्यादि ।

विज्ञानसाधनत्वेन मैत्रेयी वित्तमत्यजत् ।
तत्त्यागे धीसमाधानाज्ज्ञाने स्यादधिकारिता ॥ १२ ॥

शङ्का—जो यह आपने कहा था कि जीवन्मुक्तिरूप सुखके अनुभवके लिए भी कर्मत्याग आवश्यक है, अतः ज्ञानी याज्ञवल्क्य कर्मोंका त्यागनेके लिए प्रस्तुत हुए, सो ठीक नहीं है, कारण कि जनकजी भी जीवन्मुक्त थे, अतएव शुक आदि ब्रह्मर्षिगण ब्रह्मविद्याभ्यासके लिए जनकके यहां गये थे। जनकजीने कर्मका त्याग नहीं किया था। श्रौत-स्मार्त कर्मके साथ लौकिक राज्यपालन आदि कर्म भी करते थे और उनके जीवन्मुक्तिसुखास्वादमें कोई अन्तर नहीं था।

समाधान—ठीक है, जनकजी कर्मी और जीवन्मुक्त थे, परन्तु यह तो अनुभवसिद्ध बात है कि एक समयमें चित्त व्युत्थित और समाहित नहीं रह सकता। जीवन्मुक्तिसुखास्वाद चित्तकी एकाग्रताके बिना नहीं होता। राज्य-शासन आत्मासे अन्य तत्-तत् विषयोंकी वृत्तियोंके बिना नहीं हो सकता। अतः यह अवश्य मानना पड़ेगा कि शासनके समय आत्मेतरविषयक वृत्तियाँ अवश्य रहती थीं। फिर उस समय जीवन्मुक्तिका सुख कहाँ। जनकजी निरन्तर उक्त सुखार्थी नहीं थे, इसलिए उन्होंने कर्म-संन्यास नहीं किया। श्रीयाज्ञवल्क्यजी सतत उक्त सुखार्थी थे, इसलिए उन्होंने कर्मसंन्यास किया। चित्तविश्रान्तिकी परा काष्ठा केवल त्यागसे ही साध्य है, इसमें सन्देह नहीं, अतएव विद्वत्संन्यास निष्फल नहीं है। यदि धीस्वास्थ्यातिशय—चित्तवृत्तिका अत्यन्त समाधान—भी कर्मसंन्यासका फल नहीं माना जायगा, तो उक्त ऋषिका कर्मत्याग व्यर्थ ही हो जायगा, अतः सब कर्मोंके त्यागसे विद्वान्का धीस्वास्थ्यातिशय अवश्य फल मानना चाहिए। जनक याज्ञवल्क्यमें उक्तातिशय अवश्य स्वीकरणीय है ॥ ११ ॥

'विज्ञान०' इत्यादि। फलके लिए कर्मत्यागका निरूपण करके ज्ञानके लिए कर्मत्यागका उदाहरण देते हैं। मैत्रेयीने ज्ञानोत्पत्तिके लिए कर्मत्याग किया है, कर्मत्याग दृष्ट द्वारा ज्ञानोत्पत्तिका हेतु है, यह स्फुट कहते हैं। कर्मानुष्ठानके लिए तत्-तत् साधनसामग्रीसञ्चयके लिए तत्-तत् देश-काल आदि घटित साधनोंका समयपर ध्यान करना आवश्यक है। अतः चित्त अवश्य ही विक्षिप्त होगा। विक्षिप्त चित्तमें निदिध्यासन (ध्यान) नहीं हो सकता। चित्तकी पांच प्रकारकी वृत्तियाँ योगशास्त्रमें बतलाई गयी हैं—क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र और निरुद्ध। उनमें क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ ये तीनों वृत्तियां ध्यानके प्रतिकूल हैं। एकाग्र और निरुद्ध

चतुर्थ आश्रमो नार्या नाऽस्ति चेन्माऽस्त्वथाऽप्यसौ।
ज्ञानाङ्गं सर्वसन्त्यागमर्हत्येवाऽनिषेधकात् ॥ १३ ॥

—ये दोनों वृत्तियां भोगके अनुकूल हैं। कर्मानुष्ठान विक्षेपका संपादक होनेसे ध्यानार्थियोंके लिए अवश्य त्याज्य है। इसलिए मैत्रेयीने ज्ञानकी प्राप्तिके लिए कर्मका त्याग किया है। कर्मत्यागसे चित्तगत विक्षेपका विनाश हो जानेसे ज्ञानमें अधिकार होता है। कर्मजन्य भोगकी वासनासे प्राणियोंका संसारमें अनुराग होता है। जब कर्मोंमें अशुद्धि, पारतन्त्र्य, क्षयिष्णुत्व आदिकी भावना करता है, तब बुद्धि शुद्ध होती है और कर्मोंके त्यागकी इच्छा उत्पन्न होती है॥ १२ ॥

'चतुर्थ' इत्यादि।

शङ्का—जिनका उपनयन होता है, उन्हींका संन्यासमें अधिकार माना जाता है, स्त्रियोंका यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं होता, अतः उनका संन्यासमें भी अधिकार नहीं है, फिर मैत्रेयीका चतुर्थ आश्रममें प्रवेश कैसे हो सकता है?

समाधान—भले ही संन्यासमें स्त्रियोंका अधिकार न हो, किन्तु उनका कर्म-त्यागमें अधिकार माननेमें क्या आपत्ति है? संन्यासी ही कर्मत्याग करे, दूसरा नहीं, ऐसा व्यवहार नहीं है। 'स्त्रियां कर्मत्याग न करें', ऐसा कोई निषेधक वाक्य भी नहीं है, जिससे कि स्त्रियोंका कर्मत्याग अवैध समझा जाय। वस्तुतः स्त्रियोंका स्वतन्त्ररूपसे कर्ममें अधिकार नहीं है, किन्तु पतिके साथ ही कर्ममें अधिकार है। पतिके संन्यास लेनेपर स्त्री स्वतन्त्ररूपसे कर्म कैसे कर सकती है? अतः कर्मका त्याग स्वतः प्राप्त होता है। हाँ, स्वतन्त्र फलकी इच्छासे पतिकी आज्ञा लेकर जो कुछ स्मार्त कर्म कर सकती है, वह भी फलकी इच्छा होनेपर ही। विषयमें दोषके दर्शन आदिसे यदि उसकी फलकी इच्छा ही निवृत्त हो जाय, तो कर्मसे निवृत्ति स्वाभाविक हो जायगी। संन्यास दो प्रकारका होता है—एक दण्डादिधारणपूर्वक सब कर्मोंका संन्यास कर चतुर्थाश्रमका ग्रहण करना और दूसरा फलत्यागपूर्वक केवल कर्मसंन्यास। प्रथम संन्यासमें उपवीतादिका नियम है, इसलिए उसमें स्त्रियोंका अधिकार नहीं है, यह कहना ठीक है, पर द्वितीय संन्यासमें कोई प्रतिबन्धक न होनेसे वह स्त्रियोंके लिए भी हो सकता है। स्वर्गादिफलविशेषमें आसक्तिपूर्वक जिन यागादि कर्मोंका अनुष्ठान कर पुरुष संसारमें बद्ध होता है, दोषदर्शनके अनन्तर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे उन्हीं कर्मोंके अनुष्ठानसे बुद्धि शुद्ध होती है, इसीसे ज्ञानके निरतिशय फलका अर्थी ब्रह्मजिज्ञासु होता है॥ १३ ॥

श्रुतिः—स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्त्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ४ ॥

निदिध्यासस्वेति शब्दात्सर्वत्यागफलं जगौ ।
नह्यन्यचिन्तामत्यक्त्वा निदिध्यासितुमर्हति ॥ १४ ॥
निरन्तरं विचारो यः श्रुतार्थस्य गुरोर्मुखात् ।
तन्निदिध्यासनं प्रोक्तं तच्चैकाग्र्येण लभ्यते ॥ १५ ॥
अनात्मन्यरुचिश्चित्ते रुचिश्चाऽऽत्मनि चेद्भवेत् ।
पुण्यपुञ्जेन शुद्धं तच्चित्तमैकाग्र्यमर्हति ॥ १६ ॥

'स होवाच' इत्यादि श्रुति । अरे, तुम पहले भी मेरी सती प्रिया थी, इस समय भी प्रिय ही भाषण कर रही हो । आओ, बैठो, तुम्हें अमृतसाधनका उपदेश देता हूँ, मेरे उपदेशवाक्योंका ध्यानपूर्वक श्रवण करो ॥४॥

'निदिध्यास०' इत्यादि । निदिध्यासन संन्यासका अन्वयव्यतिरेकसिद्ध फल है अर्थात् कर्मत्यागरूप संन्याससे चित्त एकाग्र होता है, यह अन्वय है । उक्त संन्यासके अभावसे निदिध्यासनका अभाव होता है, यह व्यतिरेक है । इस अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध निदिध्यासनका 'निदिध्यासस्व' से अनुवाद करते हैं । अतः निदिध्यासन विधेय नहीं है । इसका इष्ट फल व्यतिरेकमुखसे दृढ़ करते हैं—'नह्य०' इत्यादिसे । तात्पर्य यह है कि सब कर्मोंका त्याग करनेसे किसी विहित कर्मके अनुष्ठानके लिए चित्त चञ्चल नहीं होता, अतः चित्तैकाग्र्य सिद्ध है, क्योंकि अन्यविषयक चिन्ताओंका त्याग न कर कोई भी निदिध्यासन नहीं कर सकता ॥१४॥

'निरन्तरम्' इत्यादिसे । गुरुमुखसे जो अर्थ सुना गया हो, उसका निरन्तर विषयान्तरसे अव्यवहित जो विचार है, उसको निदिध्यासन कहते हैं । 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' इस योगसूत्रका भी यही अर्थ है । उदाहरण—'तत्त्वमसि' इस वाक्यका जीवब्रह्माभेद अर्थ है, ऐसा गुरुमुखसे सुना, अनन्तर उसीकी निरन्तर लगातार चित्तवृत्तियाँ होती रहें, बीचमें अन्य विषयकी चित्तवृत्तियाँ न हों, उसको निदिध्यासन कहते हैं । दीर्घकालपर्यन्त उक्तार्थविषयक चित्तवृत्ति एकाग्रताके बिना नहीं हो सकती, अतः यह निदिध्यासन चित्तैकाग्र्यसे ही लब्ध होता है ॥ १५ ॥

'अनात्मन्य०' इत्यादि । अनात्मभूत (आत्मभिन्न) निखिल पदार्थोंमें जो अरुचि (अप्रीति) और आत्मामें पूर्ण रुचि—परम प्रेम—होता है; वह पूर्व जन्मोंके पुण्य-पुञ्जसे ही होता है । जिनको पूर्व जन्मका पुण्यपुञ्ज नहीं रहता, उनको अनवरत

शुद्ध्याऽङ्कुरितमैकाग्र्यं विवेकेनाऽभिवर्द्धयेत् ।
प्रियाप्रियविवेकोऽतो मैत्रेय्या उपदिश्यते ॥ १७ ॥

श्रुतिः—स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति

सुननेपर भी उस प्रकारकी रुचि नहीं होती । चित्तशुद्धि एवंभूत रुचिके होनेपर ही मानी जाती है । परिशुद्ध चित्त ही एकाग्र होता है । और शुद्ध चित्त पुण्यसे होता है, वह चाहे इस जन्मका हो या अन्य जन्मका । इसीसे शास्त्रमें लिखा है—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' ॥ १६ ॥

'शुद्ध्याऽ०' इत्यादि । विषयोंमें दोषभावनासे चित्त विषयाभिलाषसे पराङ्मुख होता है और नित्य निरतिशय मोक्षरूप फलके लिए उत्सुक होता है, उसके बाद श्रुत आत्मदर्शनोपायकी इच्छा होती है, आत्मदर्शन चित्तशुद्धिके बिना नहीं हो सकता, इसलिए चित्तशुद्धिकी कामनासे उसके साधनत्वरूपसे श्रुत नित्य कर्मानुष्ठानमें निरभिसन्धि प्रवृत्ति होती है । उक्त कर्मसे चित्तैकाग्र्य अङ्कुरित होता है। उसके अङ्कुरित होनेसे ही फल सिद्ध नहीं होता, किन्तु उसको बढ़ानेका प्रयास सतत करना चाहिए, अन्यथा एकाग्रताका अङ्कुर पुनः विषयवासनासे परिशुष्क हो जाता है। अतः प्रमादादिनिरासके द्वारा उसकी वृद्धिका उपाय प्रियाप्रियविवेक सतत करना चाहिए । अतः महर्षि स्वयं सहृदय होकर प्रियाप्रियका विवेक करते हैं ॥१७॥

'स होवाच' इत्यादि श्रुति।

अरे मैत्रेयि, पतिकी प्रीतिके लिए स्त्रीको पति प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी प्रीतिके लिए पति स्त्रीको प्रिय होता है। पतिके द्वारा स्त्रीको सुख होता है, अतः स्त्री स्वसुखके लिए ही पतिसे प्रेम करती है। एवं जाया (स्त्री) की प्रीतिके लिए पतिको स्त्री प्रिय नहीं होती, किन्तु पतिको स्त्रीसे सुख होता है, इसलिए

आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति आत्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन सर्वमिदं विदितम् ॥ ५ ॥

पतिजायादिभोग्येषु भोक्तर्यात्मनि चेक्ष्यते ।
प्रीतिस्तत्र क्व मुख्येयं क्व चाऽमुख्येति चिन्त्यताम् ॥ १८ ॥

पति स्वसुखके लिए ही स्त्रीसे प्रेम करता है । एवं पुत्रकी प्रीतिके लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी प्रीतिके लिए पुत्र प्रिय होता है । धनकी कामनाके लिए धन प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्म-कामनाके लिए धन प्रिय माना जाता है । एवं ब्रह्मकी कामनाके लिए ब्रह्म प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्मकामनाके लिए ब्रह्म प्रिय होता है । क्षत्रियकी कामनाके लिए क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, आत्म-कामनाके लिए क्षत्रिय प्रिय होता है । लोककी कामनाके लिए लोक प्रिय नहीं होता, आत्मकामनाके लिए ही लोक प्रिय होता है । एवं देवताओंकी कामनाके लिए देवता प्रिय नहीं होते, आत्मकामनाके लिए ही देवता प्रिय माने जाते हैं । एवं भूतोंकी कामनाके लिए भूत प्रिय नहीं होते, किन्तु अपनी कामनाके लिए भूत प्रिय होते हैं । कहाँ तक कहें, सबकी कामनाके लिए सब प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्माकी कामनाके लिए सब प्रिय माने जाते हैं । अरे मैत्रेयि, आत्मा द्रष्टव्य है, अर्थात् आत्माको देखना चाहिए, आत्मा श्रोतव्य—श्रवण करनेके योग्य है, मन्तव्य—मनन करनेके योग्य और निदिध्यासन करनेके योग्य है, हे मैत्रेयी, आत्माके दर्शनसे, श्रवणसे, मननसे, विज्ञानसे यह सब प्रपञ्च विदित हो जाता है ॥ ७ ॥

'पतिजायादि०' इत्यादि । पति, जाया आदि भोग्य पदार्थोंमें और भोक्ता आत्मामें प्रीति देखी जाती है । इसमें विचार यह करना है कि मुख्य और गौणके भेदसे प्रिय पदार्थ दो प्रकारके होते हैं—मुख्य प्रिय आत्मा भोक्ता है और गौण प्रिय भोग्य जाया, पति, पुत्र आदि अनात्मा हैं । शब्दादि पदार्थ न स्वयं प्रिय हैं और न स्वयं अप्रिय हैं, किन्तु अनुरक्त पुरुषके शब्द प्रिय होते हैं और द्वेषयुक्त पुरुषके शब्द अप्रिय

सदा भूयासमेवाऽहं मा न भूवं कदाचन।
इत्यनौपाधिकी प्रीतिः प्राणिनामात्मनीक्ष्यते ॥ १९ ॥

होते हैं। इससे सामान्यतः यही ज्ञात होता है कि अनात्मभूत जितने पदार्थ हैं, वे सब आत्माके मोहके कारण होनेसे अप्रिय और आत्माके सुखके भी कारण होनेसे प्रिय कहे जाते हैं। एवं जायादि भी आद्यन्तवान् होनेसे दुःखकारी प्रसिद्ध ही हैं, किन्तु कुछ काल तक आत्माके सुखके कारण होते हैं, इसलिए प्रिय भी कहे जाते हैं। किसी अवस्थामें आत्मा अपनेको अप्रिय नहीं जंचता, इसलिए मुख्य प्रिय आत्मा है। जायादि समयपर प्रिय और समयपर अप्रिय भी प्रतीत होते हैं, अतः प्रिय और अप्रिय दोनों हैं।

शङ्का—जायादि अनात्म पदार्थ यदि स्वतः अप्रिय हैं, तो आत्मार्थत्वरूपसे प्रिय भी नहीं हो सकते, अन्यमें अन्यभाव नहीं होता, जो देवदत्तके लिए घट है, वह मैत्रके लिए पट नहीं हो सकता है।

समाधान—माणवक (बालक) यद्यपि अग्निस्वरूप नहीं है, तथापि उसमें तेजस्वित्वादि धर्मसे अग्निका गौण व्यवहार होता हैं। 'अग्निरनुवाकमधीते' यहांपर वास्तविक अग्नि जड़ पदार्थ है, अतः वह अनुवाकका अध्ययन नहीं कर सकता और अध्ययन करनेवाला बालक है, वह अग्नि नहीं है, फिर भी विद्वानोंका भी 'अग्निरनुवाकमधीते' इत्यादि प्रयोग देखा जाता है, इसलिए यह माना जाता है कि बालकमें अग्निशब्दका गौण प्रयोग होता है, एवं अनात्म जायादि पदार्थोंमें प्रियशब्दका गौण प्रयोग होता है ॥ १८ ॥

'सदा भूयास०' इत्यादि। मैं सतत बना रहूँ, ऐसा समय न आवे कि मैं न रहूँ, इससे अनौपाधिकी प्रीति हर एक प्राणीकी आत्मामें देखी जाती है, ऐसा सुख संसारमें कोई नहीं है, जो दुःखद न हो, अन्ततः जिन-जिन साधनोंसे सुख होता है, वे साधन अप्राप्तिदशामें, विच्छेददशामें एवं विनाशदशामें दुःखद होते हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है। अतएव शास्त्रकारोंने स्पष्ट कहा है कि

'क्षयान्ता निचयाः सर्वे पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥'

जिन साधनोंसे सुख होता है, वे सब परिणाममें दुःखद होते हैं, क्योंकि

स्वसम्बन्धोपाधिनैव भोग्ये प्रीतिर्न तु स्वतः ।
अन्यथा वैरिभोग्येऽपि भोग्यत्वात् प्रीतिरापतेत् ॥ २० ॥
ननु द्वेषोऽपि वैर्यादावात्मसम्बन्धतो भवेत् ।
वैरिवैरिण्यपि द्वेषः प्रसज्येताऽन्यथेति चेत् ॥ २१ ॥

साधन क्षयी हैं, इसलिए सम्पूर्ण वैषयिक सुखोंका त्याग करके आत्यन्तिक आत्मसुखका आश्रयण करना चाहिए। वेदान्तशास्त्रका यह उपदेश है कि सांसारिक सुख आपाततः अविवेकियोंको परम ईप्सित होता है। उसको परिणाममें दुःख समझ कर उससे प्रीति हटाकर निरतिशय सुखस्वरूप आत्मामें ही प्रीति करनी चाहिए, जैसे शुक्तिमें रजतका भ्रम होता है, वस्तुतः वह रजत है नहीं, पर भ्रमदशामें उसके लाभसे सुख होता है, अन्तमें दुःख नियत है, वैसे ही पति, जाया आदिमें सुखके होनेपर भी अन्तमें दुःख ही है ॥ १९ ॥

'स्वसम्बन्धो०' इत्यादि । किसीका मत यह है कि भोग्य पदार्थोंमें भोग्यस्वरूपनिमित्तक ही प्रीति होती है, आत्मोपाधिक नहीं, स्रगादि भोग्य हैं, एतावत् ज्ञानमात्रसे उसमें स्वाभाविक भोक्ताओंकी प्रीति होती है, परन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि स्ववैरीके भोग्य पदार्थोंमें प्रीति नहीं होती; प्रत्युत उसको देखकर दुःख होता है। यदि स्वरूपतः भोग्यपदार्थोंमें ही प्रीति होती, तो वैरीके भोग्योंमें भी प्रीति होती, पर होती नहीं, इसलिए आत्मोपाधिक ही भोग्यमें प्रीति मानी जाती है। सारांश यह है कि जैसे 'तप्तायःपिण्डमें' यह स्फुट देखा जाता है कि अग्निगत ताप, प्रकाश आदि लौहमें भी प्रतीत होते हैं, वैसे ही प्रियविशिष्ट आत्मसंबन्धसे जायादिमें भी प्रीतिका भान होता है, वास्तविक प्रेमभाव नहीं होता ॥ २० ॥

'ननु द्वेषो०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि जाया आदि प्रियं होनेपर भी वास्तविक प्रीति जायादिगत नहीं मानते, किन्तु आत्मौपाधिक ही प्रीति अनात्म पदार्थोंमें मानते हैं, कारण कि वे सब आत्माके बन्धके कारण होनेसे परिणाममें दुःखकर हैं। संसारदशामें विवेकके न रहनेसे कुछ समय तक आत्मप्रीतिकर हैं, इसलिए उनमें आत्मौपाधिक ही प्रेम है। यदि ऐसा मानते हो, तो वैरीमें जो द्वेष होता है, सो भी साक्षात् वैरिगत नहीं है, किन्तु आत्मसंबन्धसे उसमें द्वेषका भान होता है, ऐसा वहाँ भी

बाढं तथाऽप्ययं दोषो नाऽऽत्मनि द्वेषसाधकः ।
प्रत्युत प्रीतिमेवात्मन्यसौ द्वेषोऽपि साधयेत् ॥ २२ ॥

कह सकते हैं ? यदि स्वरूपतः उसमें द्वेष होता, तो उसके पुत्र, भार्य्या आदिको भी उसमें द्वेषका भान होना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं, इसलिए यह कह सकते हैं कि स्वशत्रुमें जो द्वेषका भान होता है, वह द्वेष वस्तुतः शत्रुगत नहीं है, किन्तु आत्मसम्बन्धसे ही प्रीत्यादिवत् उसका भी भान आत्मौपाधिक ही है । वस्तुतः द्वेष शत्रुमें है और प्रेम आत्मौपाधिक है, इसमें कुछ विनिगमक प्रमाण नहीं है । इस परिस्थितिमें प्रतीतिके तुल्य होनेसे जैसे आत्मामें प्रीति मानकर उसके संबन्धसे जायादिमें प्रीति औपाधिक कहते हैं, वास्तविक नहीं, वैसे ही आत्मामें वास्तविक द्वेष भी मानना चाहिए । उसके संबन्धसे वैरीमें द्वेषकी प्रतीति होती है, यह न्यायतः प्राप्त है । ऐसी परिस्थितिमें अनात्मपदार्थके समान ही आत्माको भी प्रिय और अप्रिय मानना चाहिए, फिर मुख्य प्रेम आत्मामें ही है, अनात्मामें नहीं, क्योंकि अनात्म पदार्थ प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकारके समय-समयपर देखे जाते हैं । परन्तु यह दलील ठीक नहीं है, क्योंकि अनात्माके समान ही आत्मा भी प्रिय और अप्रिय समयभेदसे होता है, अतएव अपने शत्रुमें द्वेष होता है, शत्रुके शत्रुमें द्वेष नहीं होता । यदि अपनी स्वार्थहानि हुई हो, तो स्वापकारसे उसमें स्वतः ही द्वेष हो जाता है । यदि शत्रुमें द्वेष स्वाभाविक मानोगे, तो शत्रुका-शत्रु, जो अपना शत्रु नहीं है, उसमें भी द्वेषकी प्रसक्ति हो जायगी, इसलिए प्रीतिके समान द्वेषको भी औपाधिक ही मानना चाहिए ॥ २१ ॥

'बाढ़ं तथाऽप्ययम्' इत्यादि । स्वसम्बन्धी वैरीमें ही द्वेष होता है, वैरीके वैरीमें नहीं होता, यह आपका कहना मानते हैं । 'बाढम्' शब्द स्वीकारका बोधक है ।

शङ्का—तब तो आत्मामें प्रीतिके समान द्वेषको भी स्वाभाविक मानना चाहिए ।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं,

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'एषोऽस्य परमानन्दः' 'आनन्दस्यैष सीमा' 'यो वै भूमा तत्सुखम्', 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे आत्मा परमप्रेमास्पद है, यह निश्चित हो चुका है । एवं 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि सुप्तोत्थितके

वैरिदुःखप्रदानेन प्रीतेराच्छादकत्वतः ।
द्विष्यते तेन स द्वेषः प्रीतेरात्मनि कल्पकः ॥ २३ ॥
एवं विचारतः पुंस आत्मा प्रेयाननात्मनः ।
मूढस्तु तद्विपर्यासात् प्रेयः पुत्रादि मन्यते ॥ २४ ॥

परामर्शसे श्रौतार्थ तय हो चुका है, अतः उसके विरुद्ध दुःखरूपत्वकी कल्पना आत्मामें नहीं की जा सकती, स्ववैरिद्वेष आत्मामें स्वाभाविक द्वेषका साधक नहीं हो सकता; प्रत्युत आत्मा सुखस्वरूप है, इसीका साधक होता है ॥ २२ ॥

'वैरिदुःख०' इत्यादि । परस्परके अपकार द्वारा जो दोनोंके हृदयमें दुःख होता है, उसीसे परस्पर द्वेष होता है; यह द्वेष आत्मामें अप्रीत्यात्मकत्वका साधक यदि माना जाय, तो उपकार द्वारा जाया आदिमें जो प्रीति होती है, वह आत्मौपाधिक है, ऐसा मानकर आत्मा प्रीत्यात्मक है, यह जैसे व्यवस्था की जाती है, वैसे ही शत्रुमें जो द्वेष होता है, सो भी आत्मौपाधिक है, ऐसा मानकर आत्माको अप्रीत्यात्मक भी कह सकते हैं । इस आक्षेपका उत्तर देते हैं कि वैरीकी आत्मामें जो दुःखप्रदान होता है, वह शत्रुगत आत्मप्रीतिका आच्छादक होता है, अर्थात् दुःखसे आत्मगत प्रीति तिरोहित हो जाती है, इसलिए उस पुरुषके प्रति वह आत्मा प्रीतिस्वरूप प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत प्रीतिके तिरोधानसे अपकारादि द्वारा अप्रीतिकी प्रतीति होती है, इसलिए उसमें द्वेष होता है । यद्यपि दुःखप्रदान स्वतः दुःसह है, इसलिए वैरीमें द्वेष होता है अथवा स्वतः-सिद्ध आत्मप्रतीतिके आच्छादकरूपसे द्वेष होता है, ऐसे पक्ष प्रतीत होते हैं, तथापि द्वितीय पक्ष ही युक्तियुक्त है, कारण कि उक्त श्रुतियोंसे तथा सुप्तो-त्थितके 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि सर्वानुभवसिद्ध सौषुप्तिक परामर्शसे आत्मा परमप्रेमास्पद है, यह तय किया जा चुका है, अतः द्वितीय पक्षकी व्यवस्था ही समुचित है ॥ २३ ॥

'एवं विचारतः' इत्यादि । पूर्वोक्त रीतिसे विचार करनेवाले पुरुषको अनात्म-पदार्थोंकी अपेक्षा यद्यपि आत्मा ही परम प्रेमास्पद है, तथापि उस प्रकारके विवेकसे रहित मूढ़ पुरुष पुत्रादि अनात्मपदार्थोंको जो साक्षात् प्रिय समझते हैं, वह उनका विपर्य्यास (भ्रम) है । इस मतके निराकरणके लिए श्रुति उपदेश देती है कि वास्तविक प्रेमास्पद आत्मा है; आत्माके जो अनुकूल हैं;

अविचारेण पुत्रादौ या प्रीतिस्तां विचारतः ।
आत्मन्येवोपसंहृत्य चित्तैकाग्र्यं विवर्द्धयेत् ॥ २५ ॥
ऐकाग्र्यमचलं कृत्वा निदिध्यासनकारणम् ।
आत्मा द्रष्टव्य इत्येतत्सूत्रं व्याख्यातुमाददे ॥ २६ ॥

वह प्रिय होता है; जो प्रतिकूल होता है, वह अप्रिय माना जाता है । अतएव प्रियत्व और अप्रियत्व अव्यवस्थित हैं; कोई पदार्थ किसीके प्रति अनुकूल होनेसे प्रिय होता है और कोई प्रतिकूल होनेसे अप्रिय होता है । यह अव्यवस्था प्रत्यक्ष देखी जाती है—ग्रीष्मकालमें शीत प्रिय मालूम होता है, और शीतकालमें वही अप्रिय मालूम होता है; एवं शीतकालमें सौर ताप प्रिय प्रतीत होता है, किन्तु ग्रीष्मकालमें अप्रिय प्रतीत होता है, इसलिए किसी भी पदार्थमें प्रियत्व और अप्रियत्व व्यवस्थित नहीं हैं, किन्तु आत्मौपाधिक ही प्रियत्व है । यद्यपि उक्त न्यायसे अप्रियत्वको भी आत्मामें स्वाभाविक मानना चाहिए, तथापि पूर्वोक्त श्रुति और सुप्तोत्थित परामर्शके अनुसार आत्मा परम प्रेमास्पद है, उससे भिन्न अनात्मभूत पति, पुत्र आदि स्वतः बन्धकत्वरूपसे अप्रेमास्पद हैं अर्थात् आत्मा प्रीत्यात्मक और अनात्मा अप्रीत्यात्मक है । यह आत्मा और अनात्माके वास्तविक स्वरूपका निर्णय है । कहीं आत्मामें अप्रीति और अनात्मामें प्रीतिकी जो प्रतीति देखी जाती है, वह औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं है, यह वेदान्तशास्त्रकी व्यवस्था है ॥ २४ ॥

'अविचारेण' इत्यादि । विचारसे पूर्व संसारियोंकी जो पुत्रादिमें प्रीति होती है, उस प्रीतिका उक्त विचार द्वारा आत्मामें उपसंहार करके चित्तकी एकाग्रता बढ़ानी चाहिए । प्राणिमात्र सुख चाहता है; सुखका ही सदा अन्वेषण करता है, परन्तु सुखका निदान उपनिषत्के उपदेशके बिना कोई जान नहीं सकता, इसीसे अनेक संप्रदायोंकी वृद्धि हुई, पर यथार्थ सुख छिपा ही रह गया । श्रुतिसे यह निश्चय होता है कि वास्तविक सुख आत्मा ही है, इसलिए सब जगहसे चित्तको हटाकर आत्मामें ही लगाना चाहिए अर्थात् अन्य विषयोंकी चिन्ताका त्यागकर चित्तको सर्वथा एकाग्र करना चाहिए, एकाग्र चित्तमें आत्माका प्रकाश होता है ॥२५॥

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्यका तात्पर्य कहते हैं—**'ऐकाग्र्य०'** इत्यादिसे ।

अनेक जन्मोंमें अनुष्ठित सुकृतसे जिनका चित्त शुद्ध हो जाता है, उनको उक्त

आहाऽऽत्मशब्दः प्रत्यञ्चं तथा लोकेऽनुभूतितः ।
अनेनाऽत्राऽऽत्मशब्देन प्रमेयं निर्दिदिक्षितम् ॥ २७ ॥
द्रष्टव्य इति निर्दिष्टा प्रमितिर्दर्शिताऽधुना ।
अज्ञातज्ञापनं तव्यप्रत्ययेनाऽभिधीयते ॥ २८ ॥

युक्ति और अनुभवसे आत्मप्रतीतिका उपसंहार करके आत्मामें ही वक्ष्यमाण विचारका साधन चित्तैकाग्रताका संपादन करना चाहिए, उन्हींके विचारके लिए 'आत्मा वा' इत्यादि वाक्य प्रवृत्त है। जो समाहितचित्त नहीं हैं, वे प्रकृत वाक्यार्थके बोधके अधिकारी भी नहीं हैं और जो उक्त युक्ति और अनुभवसे चित्तकी एकाग्रताका सम्पादन कर चुके हैं, उनके लिए 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्य आत्मविचारका सूत्र है। प्राचीन विद्वानोंने सूत्रका लक्षण ऐसा किया है—

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥'

अल्पाक्षर, असन्दिग्ध और अनेकार्थका प्रतिपादक जो होता है, वह सूत्र कहा जाता है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस वाक्यमें उक्त लक्षण स्पष्ट है, इसलिए यह वाक्य सूत्र कहा गया है ॥ २६ ॥

'आहाऽऽत्मशब्दः' इत्यादि। यहांपर आत्मशब्द प्रत्यगात्माका बोधक है, क्योंकि लोकमें उक्त शब्द उक्त अर्थमें अनुभूत—अनुभवसिद्ध—है। 'अहं जानामि', 'अहं ब्रवीमि' इत्यादि लौकिक प्रतीति उक्तार्थके बोधनके लिए प्रसिद्ध है। इस आत्मशब्दसे वेदान्तशास्त्रका प्रमेय निर्दिदिक्षित—निर्देशेच्छाविषय—है अर्थात् वेदान्त शास्त्रके प्रमेयके निर्देशकी इच्छासे आत्मशब्दका प्रयोग किया गया है। इससे आत्मव्यतिरिक्त ब्रह्मका वेदान्तसे प्रतिपादन करना अभीष्ट है, इस भ्रमका अवकाश नहीं है। आत्मा ही यहाँ प्रमेय है—अन्य नहीं है ॥ २७ ॥

द्रष्टव्य यहांपर प्रकृत्यर्थका निर्देश करते हैं—'द्रष्टव्य' इत्यादिसे।

द्रष्टव्यमें तव्यप्रत्ययकी प्रकृति दृश् धातु है, उसका अर्थ ज्ञान है। ज्ञान प्रमात्मक विवक्षित है, भ्रमात्मक नहीं। तव्यप्रत्ययसे अज्ञातज्ञापनरूप विधि कही गई है ॥२८॥

यदि आत्मज्ञान लोकानुभवसिद्ध है, तो प्रकृतमें वह विधित्सित है, ऐसा कहना असंगत है, कारण कि वह ज्ञात ही है; ज्ञातज्ञापन तो अनुवाद हो

अज्ञात आत्मा वेदान्तजन्यज्ञानेन मीयते ।
इत्येवैषोऽत्र वाक्यार्थो नाऽप्रवृत्तप्रवर्तनम् ॥ २९ ॥
नन्वहम्प्रत्ययेनाऽऽत्मा वेदान्तश्रवणात् पुरा ।
विज्ञात इति चेत् मैवं सार्वात्म्यानवबोधनात् ॥ ३० ॥

सकता है, विधि नहीं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'अज्ञात' इत्यादिसे।

यद्यपि अहंप्रतीतिसे सिद्ध आत्मा ही यहांपर ज्ञेयत्वरूपसे विवक्षित है, तथापि भेद यह है कि उक्त प्रतीतिसिद्ध आत्माको लोग प्रतिव्यक्ति व्यावृत्त मानते हैं और वेदान्तका उपदेश है कि उक्त प्रतीतिसिद्ध आत्मा सर्वात्मा है। इसलिए सामान्यतः आत्मा तो प्रसिद्ध है, परन्तु विशेषरूपसे अज्ञात है। वेदान्त उसका विशेषरूपसे बोधन कराता है, अतः अज्ञातज्ञापकत्वरूप विधि होनेमें कोई आपत्ति नहीं है। विधि दो प्रकारकी होती है—एक अप्रवृत्तप्रवर्तक, जैसे 'जुहुयात्, यजेत' इत्यादि। यह विधि कार्यविषयक है। दूसरी अज्ञातज्ञापनरूप सिद्धार्थविषयक है, वह वाक्यमें मानी जाती है। जैसे प्रकृतमें ब्रह्म कार्य नहीं है और न कार्यान्वित ही है, इसलिए उसके विषयमें अप्रवृत्तप्रवर्त्तनरूप विधि नहीं हो सकती, किन्तु अज्ञात-ज्ञापनरूप ही विधि हो सकती है। जो 'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा' इत्यादि वचनके अनुसार प्रवर्त्तक वाक्यमें ही विधि मानते हैं, उनके मतका पूर्वमें ही विशेषरूपसे निराकरण कर चुके हैं, इसलिए फिर यहांपर विशेषरूपसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि सप्रयोजन वाक्यमें विधि होती है, निष्प्रयोजनमें नहीं। प्रयोजन कहीं कर्तव्य अर्थके उपदेशके अनन्तर उसके अनुष्ठान द्वारा सिद्ध होता है, कहीं ज्ञानमात्रसे सिद्ध होता है, अतः वहाँ कर्तव्य अर्थके उपदेशकी आवश्यकता नहीं होती। जैसे रज्जुमें सर्पभ्रान्तिके समय कोई भय, कम्प आदिसे व्याकुल होता है, वहांपर 'रज्जुरेषा न भुजङ्गमः' केवल इसी वाक्यसे उक्त भय, कम्प आदिकी निवृत्ति होनेसे यह वाक्य सप्रयोजन माना जाता है, वैसे ही वास्तविक सांसारिक दुःख अपनेमें मानकर जो अतिदुःखी होते हैं, उनके प्रति 'न त्वं संसारी, किन्तु प्रकाशानन्दब्रह्मस्वरूपः' (तुम संसारी नहीं हो, किन्तु स्वप्रकाश ब्रह्मरूप हो) इत्यादि बोधनमात्रसे सकल क्लेशोंसे मुक्ति हो जाती है। इसलिए यह भी सप्रयोजन है, इत्यादि विशेषरूपसे पूर्वमें कह चुके हैं ॥ २९ ॥

'नन्वहम्' इत्यादि।

लिङ्गदेहपरिच्छेदरूपग्राहिण्यहम्मतिः ।
सार्वात्म्यमात्मनस्तत्त्वं तदज्ञातमहंधिया ॥ ३१ ॥

शङ्का—आप कहते हैं कि अज्ञातज्ञापकत्वरूपसे वेदान्तवाक्यमें भी विधि है, सो ठीक नहीं है, कारण कि वेदान्तश्रवणसे पूर्व 'अहम्' इत्याकारक प्रत्यय होनेसे आत्मा ज्ञात ही है, अज्ञात नहीं है, अतः उक्तरूप विधि भी वेदान्तवाक्यमें नहीं हो सकती ।

समाधान—अहंप्रत्ययसे वेदान्तवेद्य आत्माकी प्रतीति नहीं होती । हम इसी मकानमें हैं, हम श्याम हैं, हम शुक्ल हैं इत्यादि प्रतीतिसे शरीरान्तःकरणादिसाधारण अहंप्रत्ययका भान होनेसे अकर्ता, अभोक्ता, स्वप्रकाशानन्द और उदासीन आत्माका ज्ञान उक्त प्रत्ययसे असिद्ध है, अतः उसके साधक वेदान्तवाक्यमें उक्त स्वरूपविधि अक्षुण्ण है । सर्वान्तरत्वका बोधन उक्त अर्थमें उपलक्षण है । जो सर्वान्तर है, वह किसी शरीरसे सुख या दुःख आदिका अनुभव नहीं कर सकता अथवा अहमाकार-वृत्तिसे प्रतिव्यक्ति व्यावृत्त जो आत्मा कहा गया है, वेदान्त द्वारा वही सर्वात्मा कहा गया है, इससे अज्ञातज्ञापकत्व स्पष्ट बोधित होता है । अतः 'एष आत्मा सर्वान्तरः' इत्यादि वाक्य संगत होते हैं ॥ ३० ॥

उक्तार्थका ही स्पष्टीकरण करते हैं—'लिङ्गदेह०' इत्यादिसे ।

दश इन्द्रियाँ, पांच प्राण, मन और बुद्धि—इन सप्तदश पदार्थोंसे युक्त सूक्ष्म शरीर, जो सर्गादिसे सर्गान्ततक नियत एक ही रहता है, और स्थूल देह ये दोनों परिच्छिन्न हैं । एवं श्यामादिरूप अन्तःकरणादिसाधारण अहंप्रतीति होती है, 'अहमिहैवाऽस्मि सदने जानानः' इत्यादि प्रत्यय लोकमें प्रसिद्ध है, अतः यह प्रतीति केवल आत्मविषयक नहीं कही जा सकती, 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा व्यापक, अपरिच्छिन्न कहा गया है और 'अहं श्यामः' इत्यादि प्रतीति देहविषयक होनेसे स्पष्ट ही अनात्मविषयक है । 'सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि' इत्यादि गीतावाक्यसे सार्वात्म्यज्ञान ही यथार्थ आत्मविषयक है, ऐसा निश्चित हो चुका है, सो आत्मतत्त्वके प्रतिपादक वेदान्त-वाक्यजन्य बोधसे पूर्व अहमाकारधीसे अज्ञात ही है, अतः वेदान्तवाक्य अज्ञात-ज्ञापकत्वरूपसे प्रतिपिपादयिषित आत्मतत्त्वमें प्रमाण हैं । ब्रह्मसे अभिन्न आत्मा है, यह छान्दोग्यके भूमाप्रकरणमें स्पष्ट कहा गया है । वहाँ नामसे लेकर

सर्वासूपनिषत्स्वेतत्सार्वात्म्यं प्रतिपाद्यते ।
कार्यज्ञेयसमाप्तिः स्यात् सार्वात्म्यस्याऽवबोधतः ॥ ३२ ॥
नाऽविध्वस्तं तमोऽत्राऽस्ति न च ज्ञानमनुत्थितम् ।
नाऽनिवृत्तस्तथाऽनर्थो नाऽनवाप्तं सुखं तथा ॥ ३३ ॥

प्राणपर्यन्तको उत्तरोत्तर भूमा (बड़ा) बतलाकर आत्माको ही सबसे बड़ा बतलाया है। भूमाको ही जानना चाहिए। भूमाका लक्षण किया है—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा'। इस वाक्यसे अद्वितीय आत्मा ही ज्ञेय है, यह स्पष्ट सिद्ध होता है। द्वितीयके न रहनेसे ज्ञेय और ज्ञाताका भेद समाप्त हो जाता है। अतएव नियोज्यादिभेद न होनेसे विधि नहीं हो सकती, यह भी सुखसे सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

'सर्वासू०' इत्यादि। सब उपनिषदोंमें ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि सबका आत्मा एक ही है, उसीमें अविद्यासे द्वैत कल्पित है। उसका साक्षात्कार होनेपर कार्य और ज्ञेय दोनोंकी समाप्ति हो जाती है। जबतक अद्वैतात्मसाक्षात्कार नहीं होता, तभीतक आविद्यिक द्वैतका भान होनेसे क्रिया, कर्ता, ज्ञाता और ज्ञेय आदिका भेद रहता है, अतः कार्य और ज्ञेयकी समाप्ति नहीं होती। उक्त साक्षात्कारके अनन्तर उक्त दोनोंकी समाप्ति हो जाती है और कृतकृत्य तथा ज्ञातज्ञेय हो जाता है, न कोई कर्तव्य ही अवशिष्ट रहता है और न ज्ञातव्य ही रहता है, सर्वथा अनात्मपदार्थसे पुरुष मुक्त हो जाता है ॥ ३२ ॥

उक्तार्थका ही प्रपञ्च करते हैं—'नाऽविध्वस्तम्' इत्यादिसे।

अद्वैतात्मसाक्षात्कारवाले पुरुषमें कोई अज्ञान ऐसा नहीं है, जो ध्वस्त न हो चुका हो अर्थात् सब तूलमूलादि भेदसे भिन्न अज्ञान नष्ट हो जाते हैं, अनुत्थित ज्ञान भी कोई नहीं रहता। अज्ञाननाशके लिए ज्ञानोत्पत्तिकी आवश्यकता होती है, जब कोई अज्ञान अध्वस्त है नहीं, तो फिर किस प्रयोजनके लिए ज्ञानोत्थानकी आवश्यकता कह सकते हैं। एवं कोई भी अनर्थ दुःख अनिवृत्त नहीं होता, किन्तु समस्त ऊँचा नीचा दुःख निःशेष निवृत्त हो जाता है। सुख भी कोई अनवाप्त नहीं है, किन्तु सब अवाप्त ही है। असलमें सब सुख आत्मसुखके ही लेश हैं। 'एतस्यैवानन्दस्यान्ये मात्रामुपजीवन्ति' इत्यादि श्रुतिसे यह सिद्ध हो चुका है, अतः आत्मसुख प्राप्त होनेपर कोई सुख अनाप्तव्य नहीं रहता।

इत्यज्ञातज्ञापनाख्यो विधिरत्रोपवर्णितः ।
अप्रवृत्तप्रवृत्त्याख्यो विधिर्नाऽत्रोपपद्यते ॥ ३४ ॥
विधेयं वा फलं वाऽस्य न सम्भवति किञ्चन ।
ब्रह्म तद्धीस्तदभ्यास उपायो वा विधीयताम् ॥ ३५ ॥

कोई सुख है ही नहीं, तो अनवासव्य कैसे हो सकता है ? इसलिए उक्त कार्य और ज्ञेयकी समाप्ति हो जाती है। छान्दोग्य-उपनिषत्का और अन्यान्य सभी उपनिषदोंका उक्त आत्मतत्त्वमें तात्पर्य है। अतएव बृहदारण्यकमें 'ब्रह्मैवेदममृतम्' इत्यादि वाक्यसे इदंपदोक्त अशेष आत्मभिन्न जगत् ब्रह्म ही है, ऐसा कहा गया है, यहांपर सामानाधिकरण्य बाधामें है। श्रुतियोंमें परस्पर संवाद होनेसे उक्त आत्मस्वरूपमें प्रामाण्य सुस्थिर है, मूर्तामूर्तके निषेधसे, पृथक् अभावका भी निषेध करनेसे और 'सर्वमात्मैवाभूत्' (सब आत्मा ही है) ऐसी व्यवस्था करनेसे अद्वैत आत्मा ही बृहदारण्यक आदिको भी अभीष्ट है ॥ ३३ ॥

'इत्यज्ञात०' इत्यादि। प्रमाणान्तरसे अज्ञात जो अद्वैत आत्मा है तज्ज्ञापकत्व रूप विधि वेदान्तवाक्यमें है। अप्रवृत्तप्रवर्तनाख्यरूप विधिकी यहां उपपत्ति ही नहीं हो सकती। भावार्थ यह है कि उपनिषत् सिद्धब्रह्मार्थबोधक होनेसे कर्तव्यार्थोपदेशक नहीं है, अतः पुरुषार्थोपदेशक न होनेसे 'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्यके समान उसमें आनर्थक्यप्रसक्ति होगी, इसलिए उसके परिहारके लिए 'बर्हिषि रजतं न देयम्' के साथ एकवाक्यता करके जैसे अर्थवादवाक्य प्रमाण माना जाता है; वैसे ही उपनिषद्वाक्यका स्वप्रकरणस्थ उपासनादि क्रियाके साथ अन्वय मानकर उसके साथ एकवाक्यतासे उसको प्रमाण मानना चाहिए। कहीं भी विधिके स्पर्शके विना वेदवाक्यमें प्रामाण्य दृष्ट नहीं है, यह प्रभाकरमतानुयायियोंका आक्षेप है, इसका उत्तर पूर्वमें विशेषरूपसे दे चुके हैं, अतः यह संक्षेपसे उत्तर दिया जाता है। विधि दो प्रकारकी होती है—एक अज्ञातज्ञापकत्व और दूसरी अप्रवृत्तप्रवर्तकत्व। द्वितीय विधिका उपनिषत्में संभव नहीं है, परन्तु प्रथम विधिकी उपपत्ति उपनिषत्से पूर्णरूपसे है, इसलिए प्रामाण्यमें कोई क्षति नहीं है ॥ ३४ ॥

'विधेयम्' इत्यादि। इसके फलके विधानका तो सम्भव है नहीं। विधेयासम्भवका प्रदर्शन करनेके लिए विकल्प करते हैं—ब्रह्म इत्यादि। इसलिए ब्रह्म, उसका साक्षात्कार, ब्रह्मधीसन्तति या उसके ध्यानका उपाय, इन्हींको विधेय कह सकते हैं ॥ ३५ ॥

न ब्रह्म नित्यसिद्धत्वाद्विधातुं शक्यते क्वचित् ।
अभूतभावियागादिर्विधिमर्हति नेतरः ॥ ३६ ॥
नित्यं न भवनं यस्य यस्य वा नित्यभूतता ।
न तयोर्विधियोग्यत्वं खपुष्पाकाशयोरिव ॥ ३७ ॥
तद्धीर्विधेयेत्यस्मिंश्च पक्षे धीः केति कथ्यताम् ।
अन्तःकरणवृत्तिर्वा किंवा तत्फलवेदनम् ॥ ३८ ॥

इन सबमें क्रमशः विधेयताका निराकरण करते हैं—'न ब्रह्म' इत्यादिसे ।

ब्रह्म नित्यसिद्ध है, अतः उसका विधान नहीं कर सकते । अभूतपूर्व, अनुत्पन्न और कारणव्यापारोत्तरभावी यागादि ही विधेय हो सकते हैं, अनागतोत्पाद्य भाव-विषयक ही विधि मानी जाती है । वह भावरूप धात्वर्थविषयक ही हो सकती है । धात्वर्थ ही करनेके योग्य होता है, द्रव्य, गुण आदि व्यापाराविष्ट होनेसे उसके द्वारा विधेय कहे जाते हैं, साक्षात् नहीं ॥ ३६ ॥

'नित्यं न' इत्यादि । जिसका सतत अभवन—असत्ता—है अथवा जिसका सतत भवन (सत्ता) है, वे दोनों विधिके योग्य नहीं होते । प्रथम उदाहरण आकाश-पुष्पका है वह कभी नहीं हुआ है, न है । दूसरा तार्किक मतसे आकाश है, उसकी नित्यसत्ता मानते हैं । न्यायमतसे आकाश नित्य है । एवं ब्रह्म सर्वमतसे नित्य है; इसलिए वह विधियोग्य नहीं है । आत्माकी घटादिके समान स्वतः उत्पत्ति नहीं होती, आकाश आदिके समान उपाधिसे भी उत्पत्ति नहीं है एवंभूत आत्मवस्तु क्रियान-पेक्षसत्ताक होनेसे स्वयं सदा विद्यमान है, अतः उसमें विधिकी संभावना नहीं है । जो पदार्थ उत्पत्तिके योग्य हैं, जैसे घटादि, वे स्वाभिव्यक्तिके लिए हेतुकी अपेक्षा करते हैं, वे ही कर्म तदभिव्यक्तिकारी होनेसे सफल माने जाते हैं । कारणसे ही कार्यका आत्मलाभ होता है, इसलिए कार्य कारणतन्त्र कहलाता है । अकार्य और अन्यकार्य—ये दोनों क्रमशः कारण और अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं करते ॥ ३७ ॥

द्वितीय पक्षका (तद्धी विधेय है, इस पक्षका) सुखसे निराकरण करनेके लिए विकल्प करते हैं—'तद्धी०' इत्यादिसे ।

तद्धी शब्दसे क्या अभीष्ट है, यह स्पष्ट कहिये—क्या अन्तःकरणवृत्ति विवक्षित है ? अथवा तत्फल वेदन अर्थात् वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य ? मनको सावधान कर कहिये ॥ ३८ ॥

वृत्तिः प्रत्यक्चिदाकारा किंवा सार्वात्म्यगोचरा ।
आद्ये विधिरपूर्वो वा नियमो वाऽथवेतरः ॥ ३९ ॥
प्रत्यक्चिदाकारतायाः प्राप्तत्वान्नाऽस्त्यपूर्वता ।
समाहिता व्युत्थिता वा वृत्तिः सर्वा चिदाकृतिः ॥ ४० ॥

'वृत्तिः प्रत्यक्चिदा०' इत्यादि । चिदाकार प्रत्यक् वृत्ति विधेय है ? या सार्वात्म्यगोचरवृत्ति ? प्रथम पक्षमें फिर विकल्प है, अपूर्वविधि है अथवा नियमविधि अथवा तदितर ॥ ३९ ॥

'प्रत्यक्' इत्यादि ।

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चाऽन्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥

इस श्लोकके अनुसार विधियाँ तीन प्रकारकी होती हैं। जो सर्वथा प्रमाणान्तरसे अप्राप्त है, वह अपूर्वविधि कहलाती है, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यहांपर अग्निहोत्र होममें स्वर्गसाधनता प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरसे अप्राप्त है और केवल इसी वाक्यसे प्राप्त होती है, अतः वह अपूर्वविधि है । पक्षमें अप्राप्तका विधान नियम-विधि है, जैसे 'व्रीहीन्नवहन्ति', यहांपर पुरोडाश बनानेके लिए धानसे तण्डुलकी निष्पत्ति आवश्यक है, उसकी निष्पत्ति दो प्रकारसे होती है, एक अवघातसे दूसरे नखविदलनसे । जब नखविदलनसे तण्डुलकी निष्पत्ति की जायगी, उस पक्षमें अवघात नहीं प्राप्त होता है । प्रयोजन तण्डुलसे है, सो नखविदलनसे सिद्ध हो चुका, फिर अवघातकी क्या आवश्यकता ? अतः पक्षमें अप्राप्त अवघातकी विधि नियमविधि है । नियमविधिसे नियमापूर्वकी उत्पत्ति होती है, तादृश अपूर्वसे सहकृत पुरोडाशसे प्रधानापूर्वकी उत्पत्ति मानी जाती है, अन्यथा नहीं, इसलिए 'व्रीहीन्नवहन्ति' इत्यादि वाक्य सार्थक होते हैं । तत्र अन्यत्र प्राप्तिमें परिसंख्या होती है । उदाहरण—'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः ।' यहां पञ्चनख पांच हैं—'शशकः शल्यकी गोधा' इत्यादिसे परिगणित । यहांपर इन पाँचोंमें भक्ष्यत्वकी न अपूर्वविधि है और न नियमविधि है, कारण कि भक्ष्यत्व रागतः प्राप्त है, अप्राप्त नहीं, नित्य प्राप्त होनेसे पाक्षिक भी प्राप्ति नहीं है, किन्तु क्षुधाकी निवृत्तिके लिए पञ्चनखापञ्चनखसाधारणमें मांसाशियोंकी भक्षणप्राप्ति है, इसलिए इस परिसंख्याविधिका अन्यत्र भक्षणनिवृत्तिमें तात्पर्य है । इन पाँचोंसे

न समाहितधीः कश्चित् प्रतीचोऽन्यत्प्रपश्यति।
व्युत्थितात्माऽपि चाऽऽत्मानं पश्यन्नेवाऽन्यदीक्षते ॥ ४१ ॥
एवञ्च नित्यप्राप्तत्वान्नियमोऽपि न युज्यते।
न काचिद् वृत्तिरस्त्यत्र चिदाकारविवर्जिता ॥ ४२ ॥

अतिरिक्त पञ्चनखका भक्षण नहीं करना चाहिए। यद्यपि यह अर्थ शब्दशक्तिसे प्राप्त नहीं होता, तथापि पञ्चनखकी तदितरमें और भक्ष्यकी अभक्ष्यमें लक्षणा कर उक्त पञ्चनखेतर पञ्चनखका भक्षण नहीं करना चाहिए, यह अर्थ प्राप्त होता है। यद्यपि लक्षणा माननेमें गौरव और तीन दोष होते हैं—स्वार्थत्याग, परार्थकल्पना और प्राप्तबाध, तथापि अन्य गतिके न होनेसे उन दोषोंका सहन करना ही पड़ता है। यह विषय पूर्वमीमांसाका है, पर यहां इसका विचार आया है; अतः जानकारीके लिए संक्षेपसे इसका निरूपण कर दिया। अब प्रकृत श्लोकका अर्थ कहते हैं—प्रत्यक्-चिदाकार वृत्तिका अपूर्व विधान नहीं हो सकता, कारण कि वह प्राप्त है। समाधि-अवस्थामें अथवा व्युत्थान-अवस्थामें अहमाकार वृत्ति रहती है। जब स्वविषयक अहमाकार वृत्ति नहीं होती, जैसे सुषुप्तकी; तब उसके प्रति स्वेतरविषयक ज्ञानके न होनेसे विधिकी क्या चर्चा? जो व्युत्थितात्मा जाग्रत् और स्वप्नका साक्षी है, वह अहमाकार वृत्तिमान् ही है, उस समय स्व और स्वेतर दोनोंको विषय करनेवाला ज्ञान विधिके बिना भी प्राप्त ही है, अतः अपूर्वविधि नहीं हो सकती। इसीको स्फुट करनेके लिए कहते हैं—'वृत्तिः सर्वा चिदाकृतिः'। दो अवस्थाओंमें जो वृत्तियां होती हैं, वे अहमाकारसे रहित नहीं हैं, अतएव किसका ज्ञान है, ऐसा संशय नहीं होता। जिस कार्यमें कर्ता स्वतन्त्र है अर्थात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ है, उसी कार्यमें कर्ताके लिए विधान होता है, अन्यत्र नहीं। प्रकृत वृत्तिरूप कार्यमें कर्ता स्वतन्त्र नहीं है, अतः विधिके होनेपर भी उसका ज्ञान दुर्वार है ॥४०॥

'न समाहित०' इत्यादि। समाहित पुरुषकी वृत्ति प्रत्यक्-चिदाकार होती है, यह सर्वसंमत है; केवल आत्मभानके लिए ही समाधिकी आवश्यकता होती है। समाधिमें योगी जन आत्मव्यतिरिक्त किसी पदार्थको नहीं देखते, व्युत्थानदशामें लोग आत्माको देखते हुए ही आत्मव्यतिरिक्तको देखते हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है ॥४१॥

यहांतक नित्य प्राप्त होनेसे अपूर्वविधि नहीं हो सकती, इसका उपपादन कर चुके; अब बुद्धिवृत्तिमें नियमविधि नहीं हो सकती, इस पक्षका उपपादन करते हैं—'एवञ्च' इत्यादिसे।

नानाद्रव्यैर्यथा योगे वियोगे च सदा घटः ।
वियत्सम्पूर्ण एवाऽऽस्ते न वियद्वर्जितः क्वचित् ॥ ४३ ॥
बाह्यशब्दादिभिर्योगे वियोगे च तथा धियः ।
प्रत्यक्चैतन्यसम्पूर्त्तिर्नित्येत्येतत्स्वसाक्षिकम् ॥ ४४ ॥
अनात्मदृष्टिव्यावृत्त्यै परिसङ्ख्येति चेत्, न तत् ।
न खल्वनात्मविभ्रान्तिं विधिर्वारयितुं प्रभुः ॥ ४५ ॥

दो अवस्थाओंकी वृत्तिमें आत्मभान नित्यप्राप्त होनेसे नियमविधि भी नहीं हो सकती । पाक्षिक प्राप्तिमें नियमविधि होती है, यह पूर्वमें स्पष्ट कर चुके हैं । नित्यप्राप्तिको स्फुट करते हैं—'न काचिद्' इत्यादिसे । कोई भी वृत्ति चिदाकारसे वर्जित नहीं होती, किन्तु चिदाकारसे संयुक्त ही होती है, अतएव उसके नित्य प्राप्त होनेसे नियमविधिका संभव नहीं है ॥ ४२ ॥

'नानाद्रव्यै०' इत्यादि । नाना द्रव्योंका घटके साथ कभी संयोग होता है, कभी वियोग होता है । मनुष्य प्रयोजनानुसार घटमें पञ्च पल्लव, पञ्च रत्न, सप्त धान और मृत्तिका आदिका संयोग और वियोग किया करता है; किन्तु आकाशका उसके समान संयोग या वियोग नहीं कर सकता, क्योंकि घट आकाशसे सदा पूर्ण रहता है, कभी भी आकाशसे रहित नहीं हो सकता । एवं प्रकृतमें चिदाकार आकाशके समान वृत्तिमें सार्वकालिक है, अतः नियमविधिका भी संभव नहीं है ॥ ४३ ॥

दृष्टान्तसिद्ध अर्थका दार्ष्टान्तिकमें उपपादन करते हैं—'बाह्य०' इत्यादिसे । एवं बाह्य शब्द, स्पर्श आदि विषयोंका बुद्धिके साथ संयोग और वियोग होता रहता है, शब्दविषयक बुद्धिमें शब्दका संयोग और उससे भिन्न स्पर्शादिका वियोग एवं स्पर्शादिबुद्धिमें स्पर्शादिका संयोग और उससे इतरका वियोग अनुभवसिद्ध है, परन्तु प्रत्यक् चैतन्यका सदा बुद्धिके साथ संबन्ध ही रहता है । कोई भी बुद्धि तदविषयक नहीं होती । एवं बुद्धिमें सदा प्रत्यगात्मपूर्ति स्वसाक्षिक और स्वानुभवसिद्ध है, इसमें विशेष साधन और प्रमाण आदिकी अपेक्षा नहीं है ॥४४॥

'अनात्म०' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मानात्मसाधारण शरीर, इन्द्रिय आदिसे विशिष्ट चैतन्यमें अहमादिज्ञान प्रसक्त है, इसलिए अनात्म शरीर आदिमें आत्मदृष्टिकी व्यावृत्तिके लिए परिसंख्या-

प्रमाणजन्यज्ञानेन विना विधिशतैरपि ।
रज्जुसर्पादिविभ्रान्तिर्नहि क्वाऽपि निवर्तते ॥ ४६ ॥
सार्वात्म्यगोचरा वृत्तिरप्यत्र न विधीयते ।
यतोऽपुरुषतन्त्रा सा तस्मादत्र कथं विधिः ॥ ४७ ॥

विधि मानो, जैसे पञ्चनखापञ्चनखसाधारणमें भक्ष्यत्व प्राप्त है, 'शल्यकी' इत्यादिसे परिगणित पञ्चनखेतर पञ्चनखमें भक्ष्यत्वकी निवृत्तिके लिए परिसंख्या मानी गई है, वैसे ही प्रकृतमें मानना चाहिए ।

समाधान—यह ठीक नहीं है, कारण कि दृष्टान्तमें पापभयसे विहित पञ्चनखसे इतर पञ्चनखमें भक्षणकी निवृत्ति होती है, किन्तु यहांपर अनात्मामें जो आत्म-दृष्टि प्रसक्त है, उसका निवारण करनेके लिए परिसंख्याविधि समर्थ नहीं है, अतः हजार परिसंख्याविधि माननेपर भी उक्त दृष्टि अपरिहार्य है; इसलिए परिसंख्याविधि भी निष्फल है ॥ ४५ ॥

'प्रमाणजन्य०' इत्यादि । सर्पज्ञान सर्प और रज्जु दोनोंमें होता है, सर्पमें प्रमा है, रज्जुमें भ्रम है, यह आवान्तर विशेष है । पर ज्ञान दोनोंमें समानरूपसे प्रसक्त है । यहां परिसंख्याविधि एक नहीं, सौ मानें, तो भी उक्त भ्रमकी निवृत्ति नहीं हो सकती । उक्त भ्रमका निवर्तक प्रमाणजन्य यह रज्जु है, इत्याकारक यथार्थज्ञान ही है, विधि एक भी न मानें, लेकिन रज्जुप्रमाके होनेपर सर्पभ्रान्ति निवृत्त हो जाती है । एवं प्रकृतमें भी आत्माका जब वेदान्तप्रमाणजन्य वास्तविक स्वरूपज्ञान होगा, तभी 'आत्मानात्मसाधारण प्रत्ययकी निवृत्ति होगी, इसके बिना सैकड़ों विधियां माननेपर भी उक्त प्रत्ययकी निवृत्ति नहीं हो सकती ।

शङ्का—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यहांपर परिसंख्याविधिको माननेसे विहितेतरमें भक्षणत्वकी निवृत्ति होती है । एवं आत्मानात्मामें आत्मबुद्धि समान प्रसक्त है, परन्तु परिसंख्या माननेपर भी उसके समान भ्रान्तिकी निवृत्ति नहीं देखी जाती, इसमें क्या कारण ?

समाधान—इसका उत्तर आगे कहेंगे ॥ ४६ ॥

प्रत्यक्-चिदाकार बुद्धिवृत्तिमें अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसंख्याविधि—इन तीनोंका निराकरण करके सर्वात्मत्वगोचर बुद्धिवृत्तिमें विधि है, इस पक्षका अनुवाद कर प्रतिषेध करते हैं—'सार्वात्म्य०' इत्यादिसे ।

कर्तृतन्त्रा यदि भवेत् तदा योषाऽग्निबुद्धिवत् ।
क्रिया स्यात् क्रियया नैव काऽप्यविद्या निवर्तते ॥ ४८ ॥

यहांपर सर्वात्मगोचर बुद्धिका भी विधान नहीं हो सकता । यद्यपि यह बुद्धि सतत नहीं होती, किन्तु यागादिके समान कभी और कहींपर होती है, तथापि उसका विधान नहीं हो सकता, इसमें कारण कहते हैं— 'अपुरुषतन्त्रा' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि क्रिया पुरुषतन्त्र—पुरुषाधीन होती है अर्थात् पुरुषके द्वारा कर्तुम्, अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुम् शक्य होती है—जैसे गाँवको जाता है, गाँवको चाहे जाय, चाहे न जाय, चाहे घोड़ेसे जाय, जानारूप क्रिया पुरुषतन्त्र है, अतः उसका विधान हो सकता है, पुरुष अपनी इच्छाके अनुसार उसको करता है । प्रमाणज्ञान वस्तुतन्त्र होता है, घट, पट आदि जैसा विषय इन्द्रियसंबद्ध होगा, इच्छा न रहनेपर भी, वैसा ही ज्ञान होगा, इच्छानुसार नहीं, मार्गमें जाते समय चोर न देखें, ऐसी इच्छा रहनेपर भी यदि चोर मार्गमें उपस्थित हो जायगा, तो वह अवश्य ही दीख पड़ेगा कि यह चोर है । इस परिस्थितिमें पूर्वकृत चोरविषयक अनीक्षणका संकल्प व्यर्थ ही हो जाता है; अतः वस्तुतन्त्र ज्ञानमें विधि कैसे हो सकती है ? कभी नहीं हो सकती ॥ ४७ ॥

'कर्तृतन्त्रा' इत्यादि । यदि सर्वात्मगोचर बुद्धिको पुरुषतन्त्र मानियेगा, तो 'योषा वाव गौतमाग्निः' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञानके समान ही सर्वात्मगोचर ज्ञान भी मानना पड़ेगा । 'योषाग्निज्ञान' मानस क्रिया है, यह क्रियात्मक मानस ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक वस्तुस्वरूपानपेक्ष और दूसरा वस्तुस्वरूप-विपरीत । 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेत् मनसा वषट्करिष्यन्' इत्यादिसे देवतास्वरूपनिरपेक्ष उक्त मन्त्रोंसे यथाम्नात उसका ध्यान विहित है । दूसरा 'योषा वाव गौतमाग्निः' इत्यादि वाक्यसे अग्निविपरीत स्त्रीमें अग्निबुद्धिका विधान है । ये दोनों ज्ञान मानसी क्रिया हैं, इसलिए पुरुषतन्त्र हैं । प्रमाणजन्य घटादिज्ञान वस्तुतन्त्र होता है, पुरुषाधीन नहीं । यदि उक्त ज्ञानके समान सर्वात्मबुद्धिवृत्तिको मानसक्रियात्मक मानेंगे, तो वह पुरुषतन्त्र हो सकती है, किन्तु मिथ्याज्ञानकी निवर्तिका नहीं हो सकेगी । प्रकृतमें सर्वात्मज्ञान अविद्यानिवर्तक इष्ट है, अविद्या निवर्तक प्रमाणजन्यज्ञान ही होता है, मानस नहीं ॥ ४८ ॥

फलसंवेदनं नाऽपि विधातुमिह शक्यते ।
संवेदनस्य नित्यत्वात् फलत्वं तूपचारतः ॥ ४९ ॥
प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासश्च सर्वदा ।
चैतन्याभासितं तच्च चैतन्यं फलमुच्यते ॥ ५० ॥
मानादिव्यभिचारेऽपि संविदव्यभिचारिणी ।
अतो नित्यतया नैतद्विधेयं फलवेदनम् ॥ ५१ ॥

वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्यरूप फल विधेय है, इस पक्षका भी निराकरण करते हैं—'फलसंवेदनम्' इत्यादिसे ।

फलभूत संवेदनका भी यहां विधान नहीं कर सकते, क्योंकि फलरूपसे अभिमत चैतन्य नित्य है । नित्यका विधान करना असंभव ही है । अनागत-उत्पाद्यकी ही विधि हो सकती है, यह पूर्वमें कह चुके हैं ।

शङ्का—चैतन्य नित्य है, अतएव उसका विधान नहीं हो सकता, फिर उसको फल कैसे कहते हो ? क्योंकि फल तो क्रियाजन्य ही माना जाता है ।

समाधान—ठीक है, वस्तुतः फल क्रियाजन्य ही होता है, किन्तु यह मुख्य फल नहीं है, इसमें औपचारिक फलत्वका व्यपदेश माना जाता है । सर्वात्मज्ञानसे अविद्याका नाश होता है और आवारक अविद्याकी निवृत्तिसे स्वतःसिद्ध आत्मैकत्वका स्फुरण होता है, इसलिए अपने कण्ठमें रहनेवाले हारकी प्राप्तिके समान ज्ञानमात्रसे वह फल कहा जाता है ॥ ४९ ॥

चैतन्य नित्य है, इसमें युक्ति कहते हैं—'प्रमाण०' इत्यादिसे ।

प्रमाण, अप्रमाण और प्रमाणाभास—ये सब चैतन्यमें कल्पित ही स्फुरित होते हैं, अतः सर्वाधिष्ठानत्वसे सन्निहित जो चिद्रूप वस्तु है, वह विधियोग्य नहीं हो सकती, सद् वस्तु अखण्डचिद्रूप एवं अनेक विशेषोंकी आलम्बन है और स्वतः समस्त विशेषोंसे रहित है, अतः विधियोग्य नहीं है । एकरसस्वरूप चैतन्य आत्मा व्यभिचारी नहीं है । अनात्म पदार्थ मिथः व्यभिचारी होते हैं, इसलिए ये भी सदेकरस वस्तुकी विधिमें उपयोगी नहीं है ॥ ५० ॥

'मानादि०' इत्यादि । मानादिका परस्पर व्यभिचार अतिस्फुट है, किन्तु संविद्का कहीं व्यभिचार नहीं कह सकते; अतः संविद् नित्य है । भाव यह है कि घटादिविषयक ज्ञानके होनेपर घटादिका भान होता है, पटादिका नहीं । एवं पटादि-ज्ञानदशामें पटादिका भान होता है, घटादिका नहीं । एवं रीत्या तत्-तत्

विषयक ज्ञानदशामें अन्य विषयका व्यभिचार स्फुट है, परन्तु संविद्का कहीं व्यभिचार नहीं होता, किसी विषयका भान संविद्भावके बिना नहीं होता। इसमें विचारना यह है कि संविद् विषयके समान भिन्न है, या अभिन्न? तार्किक कहते हैं कि संविद् भिन्न-भिन्न है, अतएव 'घटज्ञानं जातम्', 'पटज्ञानं नष्टम्' इत्यादि प्रतीति स्वरसतः संगत होती है। वेदान्तियोंका कहना है कि उक्त प्रतीति 'घटाकाशो जातः', करकाकाशो नष्टः' इत्यादि प्रतीति जैसे उपाधिभूत घट, करक आदिकी उत्पत्ति और नाशको लेकर तदुपधेय आकाशमें औपधिकरूपसे अवगाहन करती है, मुख्यरूपसे घटादिमें ही उन दोनोंका अवगाहन करती है, आकाशमें नहीं, क्योंकि आकाशको वे लोग नित्य मानते हैं। इस कल्पनामें लाघव भी है, घटादिकी उत्पत्ति और नाश तो सबको अभीष्ट ही हैं, उसीसे जब उक्त प्रतीतिकी उपपत्ति हो जाती है तब अक्लृप्त आकाशकी उत्पत्ति आदिका स्वीकार करना गौरवग्रस्त है, वैसे ही घटादिकी संविद् भी नित्य ही है, उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति विषय, इन्द्रिय और सन्निकर्षमें रहनेवाली उत्पत्ति और विनाशको लेकर उपपन्न हो जाती है, इस लिए संविद् आकाशके समान नित्य ही है एवं जाग्रत् अवस्थाकी संविदसे स्वप्नावस्थाकी सविद् भिन्न नहीं है, विषयभेदप्रयुक्त भेद ही दोनोंमें प्रतीत होता है।

शङ्का—अच्छा, तो सुषुप्ति अवस्थामें संविद् नहीं रहती, अतएव 'न किञ्चिद्वेदिषम्' यह सुप्तोत्थितको परामर्श होता है, इस परिस्थितिमें संवित्को नित्य कैसे कहते हो?

समाधान—उक्त अवस्थामें यदि संविद् न होती, तो अज्ञानादिका अनुभव कैसे होता? अनुभवके विना संस्कार नहीं हो सकता और उसके अभावसे स्मरण ही नहीं हो सकेगा। अतः स्मरणकी अन्यथानुपपत्तिसे संस्कारजनक अनुभवको उक्त अवस्थामें भी मानना चाहिए, इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें संविद् अभिन्न है, इस क्रमसे एक दिन-रातकी संविद् जैसे एक ही है, वैसे ही अन्य दिनकी संविद् भी भिन्न नहीं है। एवं जीवनपर्यन्त एक पुरुषकी संविद् एक ही सिद्ध होती है, तब अन्य पुरुषकी भी संवित् अन्य पुरुषकी संवित्से भिन्न नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण पुरुषोंकी संवित् एक ही है, ऐसा माननेमें क्या आपत्ति है?

शङ्का—यदि सब पुरुषोंकी संवित् एक ही मानते हो, तो देवदत्त द्वारा अनुभूत पदार्थोंका स्मरण यज्ञदत्त आदिको भी होना चाहिए, संविद्का भेद माननेसे यह आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव और स्मरणमें सामानाधिकरण्येन हेतुफलभाव

विधेयोऽभ्यास इति चेन्नाऽशक्यानुपयोगतः ।
अविज्ञाते ब्रह्मतत्त्वे तद्बुद्ध्यावर्त्तनं कथम् ॥ ५२ ॥

माना जाता है । अनुभव प्रतिव्यक्ति भिन्न भिन्न है, अतः उक्त स्मरणकी आपत्ति नहीं हो सकती, अतः संविदैक्यपक्षमें उक्त दोष दुष्परिहर है ।

समाधान—एक घटाकाशके धूमपूर्ण होनेसे अन्य घटाकाशमें जैसे धूमका प्रसङ्ग नहीं होता, वैसे ही पुरुषोंके अन्तःकरणोंके भिन्न-भिन्न होनेसे जिस अन्तःकरणमें संस्कार उत्पन्न होता है, उसी अन्तःकरणमें स्मरण होता है, अन्यत्र नहीं । श्रुति-प्रमाणसे यह ज्ञात होता है कि ज्ञान, इच्छा आदि अन्तःकरणके धर्म हैं । आत्माके नहीं आत्मा उक्त संवित्स्वरूप ही है ।

आत्मा आकाशादिके समान जड़ द्रव्य है, उसका प्रकाश ज्ञानसे होता है । आत्मामें ज्ञानगुणकत्व ही चैतन्य है, अतएव सुषुप्त्यादि अवस्थामें जब मन पुरीतति नाड़ीमें प्रविष्ट हो जाता है, तब उक्त चैतन्य आत्मामें नहीं रहता, अतएव 'न किञ्चिदवेदिषम्' यह परामर्श अनुमानात्मक होता है । ज्ञानादि गुण आत्माके ही हैं, अतएव 'अहं सुखी, अहं जानामि, करोमि' इत्यादि प्रतीति आत्मत्वसामानाधिकरण्यसे ज्ञानादिका अवगाहन करती है । पदार्थतत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है । अशेष-विशेषगुणोच्छेद ही मुक्ति है अर्थात् ध्वंसात्मक ही मुक्ति है, सुखके समान दुःख-निवृत्ति भी पुरुषार्थ है । सुखात्मक मोक्ष ठीक नहीं है, अन्यथा सुखरागसे मुमुक्षुओंकी मोक्षमें प्रवृत्ति माननी पड़ेगी । सुख-राग भी द्वेषके समान दोष ही है । तत्त्वज्ञानियोंकी प्रवृत्ति दोषमूलक है, यह कहना उचित नहीं है, इत्यादि न्यायमत श्रुतिविरोधसे उपेक्ष्य है । निष्कर्ष यह हुआ कि अव्यभिचारी संविद् नित्य सिद्ध है, अतः नित्यभूत संवित्का विधान नहीं हो सकता, इसलिए संविद् अविधेय है ॥ ५१ ॥

ब्रह्मधीसन्तति विधेय है, इस पक्षका भी निराकरण करते हैं—'विधेयो' इत्यादिसे ।

ब्रह्मधीसन्ततिका विधान अशक्य है, इसमें हेतु यह है कि अज्ञातब्रह्मविषयक धीसन्ततिका विधान कहते हो या ज्ञातब्रह्मविषयक धीसन्ततिका ? प्रथम पक्षमें अशक्ति कहते हैं—'अविज्ञाते' इत्यादिसे । अज्ञात ब्रह्मकी धी जब होती ही नहीं, तब आवृत्ति किसकी की जायगी ? धीके होनेपर अज्ञात ब्रह्म कैसे ? और अज्ञात-समयमें धी कहां ? अज्ञातकी धी कहना वन्ध्यापुत्रके समान व्याहत है और धीसन्तति-के विधानको प्रकृतमें कुछ उपयोग भी नहीं है; इस विषयको आगे स्फुट करेंगे ॥ ५२ ॥

ज्ञातेऽप्यविषयप्रत्यगनाकारस्य तस्य धीः ।
नैवाऽऽवर्तयितुं शक्या देवतामूर्तिबुद्धिवत् ॥ ५३ ॥
अभ्यासस्योपयोगोऽपि किं जीवब्रह्मरूपता ।
मुक्तौ चेतोऽनुवृत्तिर्वा किंवाऽविद्यानिवर्तनम् ॥ ५४ ॥

'ज्ञाते०' इत्यादि । शब्दादिसे अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान होनेपर भी उसकी आवृत्तिका विधान नहीं कर सकते, कारण कि आत्मा देवताके समान अनाकार है । मीमांसकोंके मतसे देवताओंका आकार नहीं है । यागमें मन्त्र द्वारा देवताओंका आवाहन करनेसे देवतागण आते हैं, वेदप्रामाण्यकी रक्षाके लिए यह मानना आवश्यक है । यदि देवताओंका आकार माना जायगा, तो वहाँ उनका प्रत्यक्ष होना चाहिए, पर प्रत्यक्ष नहीं होता, अप्रत्यक्षके प्रति न आना तो कारण हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे वेदप्रामाण्यका ही भङ्ग हो जायगा, इसलिए यही कहना उचित होगा कि देवताओंका आकार नहीं है, इस कारण यागस्थलमें मनुष्य उन्हें देख नहीं पाते ।

शङ्का—ऐसा ही क्यों कहें, ऐसा भी तो कह सकते हैं कि देवता तिरस्करिणी विद्यासे अपने स्वरूपको छिपा लेते हैं, इसलिए दूसरे देख नहीं सकते ।

समाधान—हां, इस प्रकारसे उक्त दोषका परिहार कर सकते हो, परन्तु एक समयमें अनेक दूर देशोंमें जो याग होते हैं, उन सबमें परिच्छिन्न आकारवाले देवता कैसे उपस्थित होंगे । जिस यागमें देवताकी उपस्थिति न होगी, उसी यागको लेकर वेदके अप्रामाण्यकी आशङ्का होगी । यदि स्वप्रभावातिशयसे अनेक शरीरोंको धारण कर और उनको उक्त विद्यासे आवृत्त कर युगपत् अनेक यागस्थलमें उपस्थित होते हैं, ऐसी कल्पना करो, तो वह अनुचित है, क्योंकि अनेक शरीरोंका धारण करने और तिरस्करिणी विद्या द्वारा उनके आवरण आदिकी कल्पना करनेकी अपेक्षा अनाकार माननेमें ही लाघव है । घटादि जो साकार विषय हैं, उनके ज्ञानकी आवृत्ति हो सकती है और तदाकारविषयक ज्ञानकी सन्तति भी हो सकती है, पर जिस विषयका आकार ही नहीं है, तद्विषयक ज्ञानकी आवृत्ति कैसे की जा सकती है ? आलम्बनके विना प्रत्ययावृत्ति दुर्घट है ॥ ५३ ॥

'अभ्यासस्यो०' इत्यादि । अभ्यास प्रकृतमें अनुपयुक्त है, इसका उपपादन करनेके लिए विकल्प करते हैं; अभ्यासका उपयोग प्रकृतमें जीवमें ब्रह्मात्मताके

योगवासिष्ठ

विषय-सूची

नानारसमयी चित्रवृत्तान्तनिचयोम्भिता ।
भीमा यौवनभूर्येन तीर्णा धीरः स उच्यते ॥ ७ ॥
निमेषभासुराकारमालोलघनगर्जितम् ।
विद्युत्प्रकाशमशिवं यौवनं मे न रोचते ॥ ८ ॥
मधुरं स्वादु तिक्तं च दूषणं दोषभूषणम् ।
सुराकल्लोलसदृशं यौवनं मे न रोचते ॥ ९ ॥
असत्यं सत्यसंकाशमचिराद्विप्रलम्भदम् ।
स्वप्नाङ्गनासंगसमं यौवनं मे न रोचते ॥ १० ॥
सर्वस्याऽग्रे सर्वपुंसः क्षणमात्रमनोहरम् ।
गन्धर्वनगरप्रख्यं यौवनं मे न रोचते ॥ ११ ॥

शृङ्गार आदि नौ रसोंसे (कटु, तिक्त आदि छः रसोंसे) पूर्ण आश्चर्यजनक अनेक वृत्तान्तोंसे परिपूर्ण भीषण यौवनभूमिको जिसने पारकर लिया, वही पुरुष धीर कहा जाता है ॥ ७ ॥

क्षणभरके लिए देदीप्यमान, चञ्चल मेघोंके गर्जनसे युक्त बिजलीके समान प्रकाशमान अमङ्गलमय यौवन मुझे पसन्द नहीं है । अर्थात् जैसे वर्षा ऋतुकी रात्रि क्षणभरके लिए बिजलीके प्रकाशसे देदीप्यमान हो उठती है और चञ्चल मेघोंके गर्जन-तर्जनसे गूँज उठती है, वैसे ही यौवनावस्था भी स्वल्पकालके लिए उज्ज्वल है । घोर गर्जनाओंके समान अभिमानपूर्ण उक्तियोंसे युक्त अमङ्गलमय यह यौवन मुझे भला नहीं लगता ॥ ८ ॥

मुनिवर, भोगके समय मीठा अतएव बड़ा भला लगनेवाला, अन्तमें दुःखदायी होनेके कारण नीमके समान कड़ुवा, दोषरूप, निन्दाके हेतुभूत सम्पूर्ण दोषोंका भूषण (सब दोषोंमें श्रेष्ठ), शराबके नशेके सदृश यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता ॥९॥

यौवन है तो निरा असत्य पर सत्य-सा प्रतीत होता है, शीघ्र ही लोगोंको अपनी वञ्चनाका शिकार बना डालता है—धोखा दे देता है—और स्वप्नमें दृष्ट स्त्रीके समान है, इसलिए यौवन मुझे नहीं रुचता ॥ १० ॥

यौवन एक क्षणभरके लिए सुन्दर प्रतीत होनेवाली सम्पूर्ण वस्तुओंमें, गन्धर्व *-

* जिसे गन्धर्वनगर दिखाई देता है उसकी मृत्यु हो जाती है । इससे गन्धर्वनगरका दर्शन मरणका चिह्न है, यह सिद्ध है । इसलिए गन्धर्वनगरके पक्षमें 'सम्पूर्ण आयुके अन्तमें' ऐसा अर्थ करना चाहिए ।

इषुप्रपातमात्रं हि सुखदं दुःखभासुरम् ।
दाहदोषप्रदं नित्यं यौवनं मे न रोचते ॥ १२ ॥
आपातमात्ररमणं सद्भावरहितान्तरम् ।
वेश्यास्त्रीसंगमप्रख्यं यौवनं मे न रोचते ॥ १३ ॥
ये केचन समारम्भास्ते सर्वे सर्वदुःखदाः ।
तारुण्ये सन्निधिं यान्ति महोत्पाता इव क्षये ॥ १४ ॥
हार्दान्धकारकारिण्या भैरवाकारवानपि ।
यौवनाज्ञानयामिन्या बिभेति भगवानपि ॥ १५ ॥
सुविस्मृतशुभाचारं बुद्धिवैधुर्यदायिनम् ।
ददात्यतितरामेष भ्रमं यौवनसम्भ्रमः ॥ १६ ॥

नगरके सदृश, सर्वश्रेष्ठ है और सभी लोगोंको क्षणमात्रके लिए अच्छा लगता है, इसलिए यह मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ ११ ॥

प्रत्यञ्चासे छोड़ा गया बाण जितने समयमें लक्ष्यका वेध करता है, केवल उतने समयतक सुखदायक, शेष सम्पूर्ण कालमें दुःख देनेवाला और नित्य सन्तापरूपी दोष देनेवाला यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ १२ ॥

यौवन केवल आपाततः—जबतक विचार न किया जाय तभी तक—रमणीय प्रतीत होता है, इसमें शुद्धचित्तताका सर्वथा अभाव रहता है । यह वेश्या स्त्रीके समागमके समान नीरस है, इसलिए मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ १३ ॥

जैसे प्रलयकालमें सबको दुःख देनेवाले बड़े-बड़े उत्पात चारों ओरसे उमड़ पड़ते हैं वैसे ही युवावस्थामें भी, सबको दुःख देनेवाले जो कोई कार्य हैं, वे सब समीपमें आ जाते हैं अर्थात् युवावस्थामें परदुःखदायी अनेक दुष्कर्म होते हैं ॥ १४ ॥

हृदयमें अन्धकार करनेवाली यौवनयुक्त अज्ञान-रात्रिसे विशाल आकारवाले भगवान् महादेवजी भी निश्चय भयभीत रहते हैं, इसीलिए ही वे सदा विवेक—ज्ञान—रूपी चन्द्रमाको धारण करते हैं । यदि नहीं डरते, तो क्यों धारण करते ? यह भाव है ॥ १५ ॥

यह यौवनकालीन मोह शुभ आचरणको भुलानेवाली एवं बुद्धिको कुण्ठित करनेवाली (बुद्धिनाश करनेवाली) भ्रान्तिकी प्रचुरमात्रामें सृष्टि करता है ॥ १६ ॥

कान्तावियोगजातेन हृदि दुःस्पर्शवह्निना ।
यौवने दह्यते जन्तुस्तरुर्दावाग्निना यथा ॥ १७ ॥
सुनिर्मलाऽपि विस्तीर्णा पावन्यपि हि यौवने ।
मतिः कलुषतामेति प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥ १८ ॥
शक्यते घनकल्लोला भीमा लङ्घयितुं नदी ।
न तु तारुण्यतरला तृष्णातरलितान्तरा ॥ १९ ॥
सा कान्ता तौ स्तनौ पीनौ ते विलासास्तदाननम् ।
तारुण्य इति चिन्ताभिर्याति जर्जरतां जनः ॥ २० ॥
नरं तरलतृष्णार्त्तिं युवानमिह साधवः ।
पूजयन्ति न तु च्छिन्नं जरत्तृणलवं यथा ॥ २१ ॥
नाशायैव मदार्त्तस्य दोषमौक्तिकधारिणः ।
अभिमानमहेभस्य नित्यालानं हि यौवनम् ॥ २२ ॥

जैसे वनाग्निसे वृक्ष जलाया जाता है, वैसे ही युवावस्थामें प्रियतमाके वियोगसे उत्पन्न दुःसह शोकानलसे जीव जलाया जाता है ॥ १७ ॥

बुद्धि दोषोंके निराकरणसे कितनी ही निर्मल क्यों न हो, कितनी ही उदार क्यों न हो और गुणोंके आधानसे कितनी ही पवित्र क्यों न हो, पर जैसे वर्षा ऋतुमें नदियां मलिन हो जाती हैं, वैसे ही यौवनमें मलिन हो जाती है अर्थात् जैसे निर्मल, पवित्र, शीतल और मधुर जलवाली नदी वर्षा ऋतुमें मलिन हो जाती है, वैसे ही निर्मल, उदार और पवित्र बुद्धि भी युवावस्थामें मलिन हो जाती है ॥१८॥

बड़ी-बड़ी लहरोंसे युक्त भीषण नदी लांघी जा सकती है, पर भोग-तृष्णासे चञ्चल इन्द्रियोंवाली यौवनसे अस्थिर चित्तवृत्ति वशमें नहीं की जा सकती है ॥ १९ ॥

वह मनोहारिणी कान्ता, उसके वे विशाल स्तन, वे मनोज्ञ हावभाव और वह सुन्दर मुख युवावस्थामें ऐसी-ऐसी अनेक चिन्ताओंसे मनुष्य शिथिल हो जाता है ॥२०॥

इस संसारमें सज्जन लोग चञ्चल भोगतृष्णासे प्रपीडित युवा पुरुषका आदर-सत्कार नहीं करते, केवल यही बात नहीं है; किन्तु वे कटे हुए और सूखे तिनकेके समान उसका तिरस्कार करते हैं ॥ २१ ॥

मनस्वियोंके लिए मानहानि मरणके समान क्लेशकारक है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'नाशायैव' इत्यादिसे ।

मनोविपुलमूलानां दोषाशीविषधारिणाम् ।
शोषरोदनवृक्षाणां यौवनं बत काननम् ॥ २३ ॥
रसकेसरसंबाधं कुविकल्पदलाकुलम् ।
दुश्चिन्ताचञ्चरीकाणां पुष्करं विद्धि यौवनम् ॥ २४ ॥
कृताकृतकुपक्षाणां हृत्सरस्तीरचारिणाम् ।
आधिव्याधिविहङ्गानामालयो नवयौवनम् ॥ २५ ॥
जडानां गतसंख्यानां कल्लोलानां विलासिनाम् ।
अनपेक्षितमर्यादो वारिधिर्नवयौवनम् ॥ २६ ॥

यौवन अभिमानसे महागजके समान जड़ और दोषरूपी मोतियोंको धारण करनेवाले अविवेकी पुरुषके अधःपतनके लिए नित्य बन्धनका स्तम्भ है या जैसे आलान (हाथीको बाँधनेका खूँटा) मोतीवाले मदोन्मत्त गजराजके दर्पको चूर्ण कर देता है, वैसे ही यौवन भी अभिमानसे मत्त और विविध दोषोंसे पूर्ण पुरुषका अधःपतन कर देता है ॥ २२ ॥

मुनिवर, खेद है कि मनुष्योंका यौवन वनस्वरूप है, प्रियतम स्त्री, पुत्र आदि इष्ट पदार्थोंकी अप्राप्ति और वियोग-जनित सन्तापसे पैदा हुआ शोष और रोदन उसके वृक्ष हैं, मन उक्त वृक्षोंकी बड़ी जड़ है और दोषरूपी साँप उन वृक्षोंके खोखलोंमें निवास करते हैं ॥ २३ ॥

मुनिवर, आप यौवनको दुष्ट चिन्तारूपी भ्रमरोंका आवासभूत कमल समझिए। वह विषयसुखकणरूपी मधु-विन्दुओं और रागादिरूपी केसरोंसे भरा हुआ है, और दुष्ट सङ्कल्परूपी पंखुरियोंसे व्याप्त है। अर्थात् जैसे कमलके ऊपर भ्रमर मँडराते हैं, वह मकरन्द और केसरसे खचाखच भरा रहता है और चारों ओरसे पंखुरियोंसे घिरा रहता है, वैसे ही युवावस्थामें मनुष्यके चित्तमें अनेक दुष्ट चिन्ताएँ मँडराती है, बुरे सङ्कल्प घेरे रहते हैं और विषयसुखकण और रागका साम्राज्य छाया रहता है ॥ २४ ॥

यौवन पुण्य और पाप रूपी या लौकिक कार्यरूपी, पतनके हेतु होनेसे, कुत्सित परवाले, हृदयरूपी तालावके तीरपर विचरनेवाले आधि-व्याधिरूपी पक्षियोंका निवासस्थान है ॥ २५ ॥

नवयौवन असंख्य एवं वृद्धिको प्राप्त होनेवाली तुच्छ सङ्कल्प-विकल्परूप

सर्वेषां गुणसर्गाणां परिरूढरजस्तमाः ।
अपनेतुं स्थितिं दक्षो विषमो यौवनानिलः ॥ २७ ॥
नयन्ति पाण्डुतां वक्रमाकुलावकरोत्कटाः ।
आरोहन्ति परां कोटिं रूक्षा यौवनपांसवः ॥ २८ ॥
उद्बोधयति दोषालिं निकृन्तति गुणावलिम् ।
नराणां यौवनोल्लासो विलासो दुष्कृतश्रियाम् ॥ २९ ॥
शरीरपङ्कजरजश्चञ्चलां मतिषट्पदीम् ।
निबध्नन् मोहयत्येष नवयौवनचन्द्रमाः ॥ ३० ॥

लहरोंका अवधिरहित (असीम) या अन्तमें जरा आदि दुःख देनेवाला सागर है। अर्थात् जैसे असीम समुद्र असंख्य और क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होनेवाली जलमय तरङ्गोंका एकमात्र आश्रय है, वैसे ही अन्तमें जरा, मरण आदि दुःखका स्थान नवयौवन भी असंख्य और लगातार बढ़नेवाली सङ्कल्प-विकल्प-परम्पराका एकमात्र आश्रय है। जैसी सङ्कल्प-विकल्प-परम्पराएँ यौवनकालमें होती हैं, वैसी अन्यकालमें नहीं होती, यह आशय है ॥ २६ ॥

यौवन आँधीके समान है। जैसे धूलिसे अन्धकारपूर्ण आँधी मकड़ीके सम्पूर्ण जालोंको तहस-नहस करनेमें सिद्धहस्त होती है, वैसे ही रजोगुण और तमोगुणसे पूर्ण विषम यौवन सत्संगति, शास्त्राभ्यास आदि अनेक प्रयत्नोंसे उत्पन्न होनेवाले सद्गुणोंकी (प्रसाद, प्रकाश, विवेकदृष्टिकी अभिवृद्धि आदिकी) स्थिरताको नष्ट करनेमें बड़ा दक्ष है ॥ २७ ॥

यौवन अतिरूक्ष पांसुओंके (आँधीमें उड़नेवाले धूलिकणोंके) समान है। जैसे इधर-उधर उड़ रहे अपवित्र तृण-पत्तोंसे अधिक दुःखदायक अतिरूक्ष धूलि-कण लोगोंके मुँहको धूलि-धूसर कर देते हैं और आकाशमें बहुत ऊँचे स्थानमें चढ़ते हैं, वैसे ही विषयोन्मुख चञ्चल इन्द्रियों द्वारा अधिक कष्टदायक रूक्ष यौवन भी विषयवासनासे उत्पन्न रोगोंसे लोगोंके मुँहको धूसर (रक्तताशून्य सफेद) कर देता है और दोषोंकी परम सीमामें आरूढ होता है ॥ २८ ॥

मनुष्योंका यौवनोल्लास (यौवनकी अभिवृद्धि) दोषोंको जगाता है, उत्पन्न करता है और गुणोंका मूलोच्छेद करता है। अतएव वह पापोंकी वृद्धि करनेके कारण पापोंका विलास है ॥ २९ ॥

मुनिवर, मनुष्योंका नवयौवन चन्द्रमाके सदृश है। जैसे चन्द्रमा कमलके

शरीरखण्डकोद्भूता रम्या यौवनवल्लरी ।
लग्नमेव मनोभृङ्गं मदयत्युन्नतिं गता ॥ ३१ ॥
शरीरमरुतापोत्थां युवतामृगतृष्णिकाम् ।
मनोमृगाः प्रधावन्तः पतन्ति विषयावटे ॥ ३२ ॥
शरीरशर्वरीज्योत्स्ना चित्तकेसरिणः सटा ।
लहरी जीविताम्भोधेर्युवता मे न तुष्टये ॥ ३३ ॥
दिनानि कतिचिद्येयं फलिता देहजङ्गले ।
युवता शरदस्यां हि न समाश्वासमर्हथ ॥ ३४ ॥
झटित्येव प्रयात्येव शरीराद् युवताखगः ।
क्षणेनैवाऽल्पभाग्यस्य हस्ताच्चिन्तामणिर्यथा ॥ ३५ ॥

परागमें सस्पृह भँवरीको कमलमें बाँधकर मोहित कर देता है, वैसे ही नवयौवन शरीरमें ही चञ्चल बुद्धिको अभिमानरूप कोशमें बाँध कर विमूढ़ कर देता है ॥३०॥

शरीररूपी छोटे वनमें उत्पन्न हुई बड़ी रमणीय यौवनरूपी मञ्जरी जब उत्कर्षको प्राप्त होती है—बढ़ती है—तब अपनेसे संबद्ध मनरूपी भ्रमरको उन्मत्त कर डालती है। अर्थात् जैसे छोटी वाटिका या कुञ्जमें उत्पन्न रमणीय फूलोंका गुच्छा जब बढ़ता है, तब उसमें बैठे भँवरेको मोहित कर देता है, वैसे ही शरीरमें उत्पन्न रमणीय प्रतीत होनेवाला यौवन मनको मोहित कर देता है ॥३१॥

मुनिवर, शरीररूपी मरुभूमिमें कामरूपी घामके तापसे प्रतीत हो रही यौवनरूपी मृगतृष्णिकाके प्रति दौड़ रहे मनरूपी मृग विषयरूपी गड्ढेमें गिर पड़ते हैं। अर्थात् जैसे मरुभूमिमें घामके तापसे प्रतीत हो रही मृगतृष्णाके प्रति जलकी इच्छासे दौड़ रहे मृग गड्ढेमें गिर पड़ते हैं, वैसे ही शरीरमें कामके सन्तापसे भासित यौवनके प्रति दौड़ रहा मन विषयोंमें फँस जाता है ॥ ३२ ॥

शरीररूपी रात्रिकी चाँदनी, मनरूपी सिंहकी अयाल (गर्दनके बाल) और जीवनरूपी समुद्रकी लहरी युवावस्थासे मुझे सन्तोष नहीं होता ॥ ३३ ॥

जो यह युवावस्था है, यह देहरूपी जङ्गलमें कुछ दिनोंके लिए फली-फूली शरद् ऋतु है, यह शीघ्र ही क्षयको प्राप्त हो जायगी। अतएव इसपर आप लोगोंको विश्वास नहीं करना चाहिए। (भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अपने अनुचरोंके प्रति यह कथन है) ॥ ३४ ॥

उक्त अर्थका ही 'झटिति' इत्यादि छः श्लोकोंसे विशदरूपसे वर्णन करते हैं—

यदा यदा परां कोटिमध्यारोहति यौवनम् ।
वल्गन्ति सज्वराः कामास्तदा नाशाय केवलम् ॥ ३६ ॥
तावदेव विवल्गन्ति रागद्वेषपिशाचकाः ।
नाऽस्तमेति समस्तैषा यावद् यौवनयामिनी ॥ ३७ ॥
नानाविकारबहुले वराके क्षणनाशिनि ।
कारुण्यं कुरु तारुण्ये म्रियमाणे सुते यथा ॥ ३८ ॥
हर्षमायाति यो मोहात् पुरुषः क्षणभङ्गिना ।
यौवनेन महामुग्धः स वै नरमृगः स्मृतः ॥ ३९ ॥
मानमोहान्मदोन्मत्तं यौवनं योऽभिलष्यति ।
अचिरेण स दुर्बुद्धिः पश्चात्तापेन युज्यते ॥ ४० ॥
ते पूज्यास्ते महात्मानस्त एव पुरुषा भुवि ।
ये सुखेन समुत्तीर्णाः साधो यौवनसङ्कटात् ॥ ४१ ॥

जैसे अभागे पुरुषके हाथसे चिन्तामणि (अभीष्ट पदार्थ देनेवाला रत्न) तत्काल चला जाता है, वैसे ही शरीरसे युवावस्थारूपी पक्षी जल्दी भाग खड़ा होता है ॥ ३५ ॥

जब यौवन अपनी चरम सीमामें आरूढ़ हो जाता है, तब केवल नाशके लिए ही सन्तापयुक्त कामनाएँ वृद्धिको प्राप्त होती हैं ॥ ३६ ॥

तभीतक राग, द्वेषरूपी पिशाच विशेषरूपसे इधर-उधर घूमते-फिरते हैं, जबतक यह यौवनरूपी रात्रि सम्पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती। राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण दोषोंकी जननी युवावस्था ही है, यह भाव है ॥ ३७ ॥

जैसे विविध बालक्रीड़ाएँ करनेवाले, क्षणभरमें नष्ट होनेवाले मरणासन्न पुत्रमें लोगोंकी करुणा होती है, वैसे ही विविध चित्तविकारों (मनोरथों) से बढ़ी-चढ़ी, थोड़े समयतक रहकर नष्ट हो जानेवाली बेचारी युवावस्थापर भी करुणा करो ॥३८॥

जो मनुष्य क्षणभरमें विनष्ट होनेवाले यौवनसे मूढ़तावश फूला नहीं समाता, वह मनुष्य होता हुआ भी निरा पशु ही है, क्योंकि वह महामूढ़ है ॥ ३९ ॥

जो मनुष्य अभिमान युक्त अज्ञानके कारण मदोन्मत्त युवावस्थाको उपादेय (सारयुक्त) वस्तु समझकर उसपर आसक्त होता है उस दुर्बुद्धिको शीघ्र ही पश्चात्ताप भोगना पड़ता है ॥ ४० ॥

मुनिवर, इस जगतीतलमें वे लोग पूजनीय हैं, वे ही महात्मा हैं और वे

सुखेन तीर्यतेऽम्भोधिरुत्कृष्टमकराकरः ।
न कल्लोलवलोल्लासि सदोषं हतयौवनम् ॥ ४२ ॥
विनयभूषितमार्यजनास्पदं करुणयोज्ज्वलमावलितं गुणैः ।
इह हि दुर्लभमङ्ग सुयौवनं जगति काननमम्बरगं यथा ॥४३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
यौवनगर्हानाम विंशतितमः सर्गः ॥ २० ॥

—०—

ही पुरुष हैं, जिन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदिकी हानिके बिना सुखपूर्वक यौवनरूपी संकटको पार कर दिया ॥ ४१ ॥

बड़े-बड़े मगरोंसे पूर्ण सागर सुखपूर्वक तैरा जा सकता है, परन्तु रागद्वेष आदि रूप महातरङ्गोंके कारण उमड़ा हुआ और अनेक दोषोंसे युक्त निन्दनीय यौवनके पार जाना कठिन है ॥ ४२ ॥

बाल्यावस्था और वृद्धावस्थामें अज्ञान और अशक्तिसे पुरुषार्थसाधन नहीं हो सकता और युवावस्था विविध दोषोंसे पूर्ण होनेके कारण पुरुषार्थसाधनके योग्य नहीं है, ऐसी परिस्थितिमें पुरुषको कभी भी साधनसम्पतिसे मोक्षकी आशा नहीं है, ऐसी आशङ्का कर सम्पूर्ण यौवनोंकी निन्दा नहीं की जाती, किन्तु दुर्यौवनकी ही निन्दा की जाती है। सुयौवनका तो पुरुषार्थमें ही पर्यवसान होता है, ऐसा लक्षण द्वारा दिखलाते हुए उसकी दुर्लभताको दिखलाते हैं— 'विनय०' इत्यादिसे ।

ब्रह्मन्, विनयसे अलंकृत, साधुओंके आश्रमके समान शान्तिप्रद, करुणापूर्ण और शम, दम आदि विविध गुणोंसे युक्त यौवन इस संसारमें इस मनुष्यजन्ममें भी वैसे ही दुर्लभ है जैसे कि आकाशमें वन। अर्थात् जैसे आकाशमें वनकी स्थिति अतिदुर्लभ है, वैसे ही इस संसारमें विनययुक्त, पूज्य मुनिजनोंमें रहनेवाला, दयासे परिपूर्ण और शम, दम आदि गुणोंसे परिवृत सुयौवन मनुष्यजन्ममें भी अतिदुर्लभ है, फिर अन्य योनियोंमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ४३ ॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

—०—

एकविंशतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥ १ ॥
त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचनम् ।
समालोकय रम्यं चेत् किं मुधा परिमुह्यसि ॥ २ ॥
इतः केशा इतो रक्तमितीयं प्रमदातनुः ।
किमेतया निन्दितया करोति विपुलाशयः ॥ ३ ॥

इक्कीसवाँ सर्ग

[प्रत्यक्ष नरकसगूहभूत सम्पूर्ण अङ्गोंवालीं तथा मनुष्योंके नरकपातकी हेतु स्त्रियोंकी निन्दा]

जिन स्त्री-शरीरोंमें युवकोंको रमणीयताकी भ्रान्ति होती है, उनके स्वरूपको विवेचनपूर्वक दर्शानेके लिए इस सर्गका आरम्भ करते हैं—'मांस०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, नस और हड्डियोंके ग्रथनसे शोभित मांसमयी स्त्रीके रथ, गाड़ी आदिके समान चञ्चल शरीररूप पिंजड़ेमें जिसे युवक रमणीय-सा समझते हैं, वह कौन वस्तु है ? अर्थात् कुछ नहीं है ॥ १ ॥

उक्त अर्थको ही विस्तारसे विशद करते हुए पहले युवकोंको जिन नेत्रोंमें हावभावरूप विलासकी भ्रान्ति होती है, विवेकके होनेपर उन नेत्रोंकी असारता (निन्दनीयता) दिखलाते हैं—'त्वङ्मांस०' इत्यादिसे ।

हे प्रियजन, त्वचा, मांस, रक्त और अश्रुजलको अलग करके नेत्रको देखो, यदि वह रमणीय है, तो उसपर आसक्ति करो । यदि रमणीय नहीं है, तो क्यों व्यर्थ ही उसपर मोहित होते हो, अर्थात् नेत्र त्वचा, मांस, रक्त और आंसू इनसे अतिरिक्त वस्तु नहीं है, इन्हींके समुदायका नाम नेत्र है, भला बतलाओ तो, त्वचा आदिमें गर्हिततताके सिवा रमणीयता क्या है ? ॥ २ ॥

स्त्रीका शरीर क्या है, उसका कुछ अंश केश है, कुछ अंश रक्त है और कुछ अंश मांस आदि हैं, इन सबमें रम्यता कहां है ? ये सब नितान्त घृणास्पद और हेय हैं, इस कारण विवेकसम्पन्न प्राज्ञ पुरुषको स्त्रीके शरीरसे क्या काम है ? अर्थात् वह उसे निन्दनीय ही समझते हैं, रमणीयताका लेश भी उसमें नहीं देखते ॥ ३ ॥

वासोविलेपनैर्यानि लालितानि पुनः पुनः ।
तान्यङ्गान्यङ्ग लुण्ठन्ति क्रव्यादाः सर्वदेहिनाम् ॥ ४ ॥
मेरुश्रृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा ।
दृष्टा यस्मिन् स्तने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥ ५ ॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः ।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवाऽन्धसः ॥ ६ ॥
रक्तमांसास्थिदिग्धानि करभस्य यथा वने ।
तथैवाऽङ्गानि कामिन्यास्तां प्रत्यपि हि को ग्रहः ॥ ७ ॥
आपातरमणीयत्वं कल्प्यते केवलं स्त्रियाः ।
मन्ये तदपि नाऽस्त्यत्र मुने मोहैककारणम् ॥ ८ ॥

हे बन्धुगण, बहुमूल्य वस्त्र और कस्तूरी, केसर आदिके लेपसे (उबटन, तेल आदिके मर्दनसे) जो सम्पूर्ण मनुष्योंके शरीर कभी बारबार सुशोभित हुए थे, उन्हें, समय पाकर, गृध्र, श्रृगाल आदि मांसाहारी जीव नोच-दबोच कर खाते हैं । यही उनका अन्तिम परिणाम है ॥ ४ ॥

जिस स्तनमण्डलपर सुमेरु पर्वतके शिखरसे बहनेवाले गङ्गाजलके प्रवाहके सदृश मोतियोंके हारकी शोभा देखी गई थी और देखी जाती है, वही स्त्रीस्तन समय पाकर शीघ्र श्मशान-भूमिमें एवं ग्राम और नगरसे दूर निर्जन स्थानोंमें भातके छोटे पिण्डके समान कुत्तोंका ग्रास बनता है ॥ ५,६ ॥

जैसे वनमें चरनेवाले गदहे या ऊँटके अङ्ग रक्त, मांस और हड्डियों द्वारा बने हैं, वैसे ही स्त्रीके अंग भी उन्हीं उपकरणों द्वारा बने हैं, फिर उसीके लिए इतना आग्रह (अधिक आदर) क्यों ? अर्थात् गदहेका शरीर जिस सामग्रीसे बना है, स्त्रीका शरीर भी उसी तुच्छ और घृणित सामग्रीसे बना है, अतः वह भी उक्त जीवोंके समान ही घृणित है ॥ ७ ॥

केवल अविचारसे ही लोगोंने स्त्रीमें रमणीयताकी कल्पना कर रक्खी है, परन्तु मेरे मतसे स्त्रीशरीरमें अविचारजनित रमणीयता भी नहीं है, क्योंकि स्त्रीमें जो रमणीयताकी प्रतीति होती है, उसका कारण एकमात्र मोह है । सीपमें जो चाँदीकी कल्पना होती है, वहांपर सीपरूप अधिष्ठान और अज्ञान दोनों रहते हैं, किन्तु यहांपर अधिष्ठानका अभाव है, अतएव यह केवल अज्ञानजनित ही है ॥ ८ ॥

विपुलोल्लासदायिन्या मदमन्मथपूर्वकम् ।
को विशेषो विकारिण्या मदिरायाः स्त्रियास्तथा ॥ ९ ॥
ललनालानसंलीना मुने मानवदन्तिनः ।
प्रबोधं नाऽधिगच्छन्ति दृढैरपि शमाङ्कुशैः ॥ १० ॥
केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः ।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥ ११ ॥
ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः ।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ॥ १२ ॥

हे मुनीश्वर, मदसे अनेक प्रकारका आनन्द देनेवाली और पतन, दंगा, फसाद आदि विविध अनर्थ करानेवाली मदिरामें और कामसे विविध आनन्द देनेवाली और स्वयं काम विकारसे युक्त स्त्रीमें क्या अन्तर है ? यह भाव है कि स्त्री काम द्वारा विविध प्रकारके उल्लासोंको देती है, और स्वयं कामविकारसे युक्त रहती है और मदिरा मादकशक्ति द्वारा विविध प्रकारके उल्लासोंको देती है और स्वयं यव आदिके विकारसे या स्खलन, कलह आदि विकारसे युक्त है, इसलिए दोनों समान हैं, अर्थात् जैसे श्रेय चाहनेवाले पुरुषके लिए मदिरा हेय है, वैसे ही स्त्री भी हेय है ॥ ९ ॥

मुनिजी, ललनारूपी आलानमें (हाथीको बांधनेके स्तम्भमें) मदरूपी मोहसे सोये जैसे मनुष्यरूपी हाथी परिपक्व (अंकुश पक्षमें कठोर) शमरूपी अङ्कुशके प्रहारोंसे विवेक (हाथीके पक्षमें जागरण) को प्राप्त नहीं होते हैं। अर्थात् जैसे बन्धन-स्तम्भमें मदसे सुप्तप्राय हाथी कठोर अङ्कुशके प्रहारोंसे नहीं जागता, वैसे ही स्त्रीके समीप मोहवश सुप्तप्राय मनुष्य तीव्र शम, दम आदिसे विवेकको प्राप्त नहीं होते ॥ १० ॥

जैसे काजलको धारण करनेवाली, दाहक होनेके कारण छूनेके अयोग्य और नेत्रोंको प्रिय लगनेवाली अग्निकी ज्वाला तिनकोंको जला डालती है, वैसे ही केश और काजलको धारण करनेवाली, छूनेके अयोग्य, नेत्रोंको सुखदायक (मनोहर) पापरूपी अग्निकी ज्वालारूप स्त्रियाँ मनुष्यको जला डालतीं हैं ॥ ११ ॥

वासनाओंसे पूर्ण होनेके कारण आपाततः सरस मालूम पड़नेवाली लेकिन वास्तवमें तो नीरस यहां स्थित स्त्रियाँ अतिदूरवर्तिनी यमपुरीमें भीषणरूपसे धधक रहीं नरकाग्नियोंकी उत्तम लकड़ियां है ॥ १२ ॥

विकीर्णाकारकबरी तरत्तारकलोचना ।
पूर्णेन्दुबिम्बवदना कुसुमोत्करहासिनी ॥ १३ ॥
लीलाविलोलपुरुषा कार्यसंहारकारिणी ।
परं विमोहनं बुद्धेः कामिनी दीर्घयामिनी ॥ १४ ॥
पुष्पाभिराममधुरा करपल्लवशालिनी ।
भ्रमराक्षिविलासाढ्या स्तनस्तवकधारिणी ॥ १५ ॥

स्त्री लम्बी रात्रिके समान व्यर्थ है। जैसे रात्रिके चारों ओर व्याप्त अन्धकार ही केशोंका जूड़ा है, चंचल तारे ही नेत्र हैं, पूर्ण चन्द्रविम्ब ही मुख है, विकसित पुष्पराशि ही मन्द हास है, श्रृङ्गार आदि लीलासे उसमें पुरुष चंचल रहते हैं, सोये रहनेके कारण धर्म, विवेक, वैराग्य आदिका विनाश होता है और वह लोगोंकी बुद्धिको गाढ़ मोहमें डालती है, वैसे ही स्त्रीके भी चारों ओर बिखरे हुए अन्धकारके समान श्याम केशोंका जूड़ा रहता है, चञ्चल कनीनिकाओंसे युक्त नेत्र होते हैं, पूर्ण चन्द्रमाके समान आह्लादक होनेसे अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला मुख रहता है, पुष्पराशिके समान विशद हास रहता है, श्रृङ्गारादिकी लीलासे पुरुष उसमें विशेषरूपसे सस्पृह रहते हैं, वह धर्म विवेक, वैराग्य आदि कार्योंकी विघातक है और बुद्धिको मोहित करनेमें तो वह वेजोड़ है, अतः सचमुच स्त्री लम्बी रात्रिके समान केवल आयुका ही नाश करती है, उससे किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती ॥ १३,१४ ॥

स्त्री केवल पुरुषार्थका ही नाश नहीं करती, किन्तु अनर्थकारिणी भी है, ऐसा कहते हैं—'पुष्प०' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

स्त्री विषकी लताके समान युवावस्थासे रसीली (लताके पक्षमें फूलोंसे मनोहर), हाथरूपी पल्लवोंसे (कल्लोंसे) सुशोभित, भ्रमररूपी नेत्रोंके हावभावसे पूर्ण, स्तवकरूपी स्तनोंको धारण करनेवाली फूलोंके केसरके समान गौर वर्णवाली मनुष्योंकी हत्याके सदृश अधःपातनमें तत्पर और कामोन्मादसे अपना सेवन करनेवाले लोगोंको मूर्छा, मरण आदि विवशताको प्राप्त कराती है। आशय यह है कि जैसे विषकी लता फूलोंसे मनोहर लगती है, नये नये लाल पत्तोंसे सुशोभित रहती है, भँवरोंसे व्याप्त रहती है, फूलोंके गुच्छोंको धारण करती है,

पुष्पकेसरगौराङ्गी नरमारणतत्परा ।
ददात्युन्मत्तवैवश्यं कान्ता विषलता यथा ॥ १६ ॥
सत्कार्योच्छ्वासमात्रेण भुजङ्गदलनोत्कया ।
कान्तयोद्ध्रियते जन्तुः करम्भ्येवोरगो बिलात् ॥ १७ ॥
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसाम् ।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्ग बन्धनवागुराः ॥ १८ ॥
ललनाविपुलालाने मनोमत्तमतङ्गजः ।
रतिश्रृङ्खलया ब्रह्मन् बद्धस्तिष्ठति मूकवत् ॥ १९ ॥

फूलोंके केसरसे पीतवर्ण हो जाती है, मनुष्योंको मार डालती है और जो लोग कामजनित उन्मादसे उसका सेवन करते हैं उन्हें मूर्छा या मृत्युके वशमें कर देती है, वैसे ही स्त्री भी युवावस्थासे रसीली, सुन्दर हाथोंसे सुशोभित, भँवरकी भाँति चञ्चल नयनोंके कटाक्ष आदिसे सम्पन्न, गुच्छोंके समान मनोज्ञ स्तनोंको धारण करनेवाली, फूलोंके केसरके समान कांचनवर्णा, मनुष्योंके विनाशके लिए तत्पर है और स्वसेवियोंको मूर्छा, मृत्यु आदिके वशमें कर देती है ॥ १५, १६ ॥

जैसे टुकड़े-टुकड़े करनेकी इच्छावाली रीछन (भालूकी स्त्री) अपनी साँससे बिलमें स्थित साँपको बिलसे निकाल कर खा जाती है, वैसे ही लम्पट लोगोंका धन और मन हरकर विनाश करनेके लिए उत्कण्ठित स्त्री दिखावेके लिए किये गये मिथ्याभूत सत्कार द्वारा आश्वासन देकर मनुष्यको अपने वशमें कर लेती है ॥१७॥

हे मुनिश्रेष्ठ, कामरूपी व्याधने मूढ़बुद्धि मनुष्यरूपी पक्षियोंको फँसानेके लिए स्त्रीरूपी जाल फैला रक्खे हैं, अर्थात् जैसे व्याध दाना चरनेके लिए लालायित पक्षियोंको फँसानेके लिए जाल बिछाते हैं, वैसे ही कामदेवने मूढ़मति (सांसारिक असत् विषयोंको सच समझनेवाले) लोगोंको फँसानेके लिए स्त्रियां, जालकी नाईं, इधर उधर बिखरे रक्खी हैं ॥ १८ ॥

स्त्रीरूपी विशाल आलानमें (हाथीको बांधनेके खूँटेमें) रतिरूपी (प्रेमरूपी) जंजीरसे बँधा हुआ मनरूपी मदोन्मत्त हाथी गूँगेके समान चुपचाप बैठा रहता है, अर्थात् असमर्थ होनेके कारण अपने छुटकारेके लिए किसी उपायका अवलम्बन नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका ॥ २० ॥
मन्दुरं च तुरङ्गाणामालानमिव दन्तिनाम् ।
पुंसा मन्त्र इवाऽहीनां बन्धनं वामलोचना ॥ २१ ॥
नानारसवती चित्रा भोगभूमिरियं मुने ।
स्त्रियमाश्रित्य संयाता परामिह हि संस्थितिम् ॥ २२ ॥
सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयाऽनया ।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥ २३ ॥
किं स्तनेन किमक्ष्णा वा किं नितम्बेन किं भ्रुवा ।
मांसमात्रैकसारेण करोम्यहमवस्तुना ॥ २४ ॥

दुष्ट वासनारूप रस्सीसे बँधी हुई स्त्री धनरूपी कीचड़में विचरनेवाले संसाररूपी छोटे तालाबके मछलीरूप पुरुषोंको फँसानेके लिए बंसीमें (मछलियोंको पकड़नेके कांटेमें) लगी हुई आटेकी गोली है। अर्थात् जैसे मछुवेकी बंसीमें लगी गोली कीचड़में इधर उधर चलनेवाली छोटे बरसाती तालाबकी मछलियोंको बन्धनमें डालकर मरवा देती है, वैसे ही दुर्वासनासे पूर्ण नारी धनलोलुप संसारी पुरुषोंको बन्धनमें डालकर नष्ट कर देती है। 'चित्तकर्दमचारिणाम्' इस पाठमें चित्तके वशीभूत—यह अर्थ करना चाहिये ॥ २० ॥

जैसे घोड़ोंके लिए अश्वशाला बन्धन है, हाथियोंके लिए आलान बन्धन है और साँपोंके लिए मन्त्र बन्धन है, वैसे ही पुरुषोंके लिए नारी बन्धन है ॥२१॥

हे मुनिवर, विविध रसोंसे पूर्ण भोगकी भूमि यह विचित्र पृथिवी स्त्रियोंके ही सहारे दृढ़ स्थितिको प्राप्त हुई है, इस संसारकी हेतु स्त्री ही है, यदि स्त्री न होती, तो संसार कभीका विलीन हो गया होता ॥ २२ ॥

दुःखरूपी सांकलसे युक्त सम्पूर्ण दोषरूपी रत्नोंकी पेटी (सन्दूक) रूप स्त्रीसे मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। स्त्री दोषरूपी रत्नोंको रखनेके लिए सन्दूक है और दुःख उसमें ताला बन्द करनेके लिए जंजीर है, अतएव दुःखमय और दोषमय स्त्रीकी भला किस विवेकीको इच्छा होगी, यह भाव है ॥ २३ ॥

स्त्रीके मांसमय स्तन, नेत्र, नितम्ब (कमरका पिछला उभरा हुआ भाग) और भौंहोंसे मैं क्या करूँ ? वे सब अतितुच्छ हैं, केवल मांस जैसी घृणित वस्तुसे बने हैं ॥ २४ ॥

इतो मांसमितो रक्तमितोऽस्थीनीति वासरैः ।
ब्रह्मन्कतिपयैरेव याति स्त्री विशरारुताम् ॥ २५ ॥
यास्तात पुरुषैः स्थूलैर्लालिता मनुजैः प्रियाः ।
ता मुने प्रविभक्ताङ्ग्यः स्वपन्ति पितृभूमिषु ॥ २६ ॥
यस्मिन् घनतरस्नेहं मुखे पत्राङ्कुराः स्त्रियः ।
कान्तेन रचिता ब्रह्मन् पीयते तेन जङ्गले ॥ २७ ॥
केशाः श्मशानवृक्षेषु यान्ति चामरलेखिकाम् ।
अस्थीन्युडुवदाभान्ति दिनैरवनिमण्डले ॥ २८ ॥
पिबन्ति पांसवो रक्तं क्रव्यादाश्चाऽप्यनेकशः ।
चर्माणि च शिवा भुङ्क्ते खं यान्ति प्राणवायवः ॥ २९ ॥
इत्येषा ललनाङ्गानामचिरेणैव भाविनी ।
स्थितिर्मया वः कथिता किं भ्रान्तिमनुधावथ ॥ ३० ॥

ब्रह्मन्, स्त्रीके किसी भागमें मांसकी अधिकता है, किसी भागमें खून अधिक है और कहींपर हड्डियां प्रचुरमात्रामें है, ऐसे घृणित उपादानोंसे उसका निर्माण हुआ है, वह भी चिर कालतक रहे सो बात नहीं है, किन्तु थोड़े ही दिनोंमें वह जीर्ण-शीर्ण हो जाती है ॥ २५ ॥

पूज्यवर, जिन्हें अदूरदर्शी पुरुषोंने बड़े लाड़-प्यारसे पाला-पोसा वे प्रियतमाएँ समय पाकर श्मशानमें छिन्न-भिन्न होकर सोती हैं, अर्थात् कहीं उनका सिर पड़ा है, तो कहीं हाथ पड़े हैं, कहीं पैर पड़े हैं और कहीं दूसरे अंग ॥ २६ ॥

ब्रह्मन्, प्रियाके जिस मुखमें प्रियतम पतिने बड़े प्रेमसे कपूर, कस्तूरी, गोरोचन, केसर, चन्दन आदिसे भांतिके तिलक आदि बनाये थे, वही मुख थोड़े दिनोंमें निर्जन वनमें सूखता है ॥ २७ ॥

उनके सिरके बाल राखसे धूसर होनेके कारण श्मशानके वृक्षोंमें चँवर ऐसे मालूम पड़ते हैं और उनकी मांस और रक्तसे शून्य सफेद हड्डियां पृथिवीमें तारोंके समान चमचमाती मालूम होती हैं ॥ २८ ॥

उनके शरीरके रक्तको धूलि सुखाती है और मांसाहारी जीव भी झुण्डके-झुण्ड उनपर टूटते हैं, उनके चामको शृगाल नोच-नोचकर खाते हैं और उनका प्राणवायु आकाशमें चला जाता है ॥ २९ ॥

हे संसारस्थित लोगों, स्त्रीके अंगोंका थोड़े ही कालमें होनेवाला यह

भूतपञ्चकसंघट्टसंस्थानं ललनाभिधम् ।
रसादभिपतत्वेतत्कथं नाम धियाऽन्वितः ॥ ३१ ॥
शाखाप्रतानगहना कट्वम्लफलमालिनी ।
सुतालोत्तालतामेति चिन्ता कान्तानुसारिणी ॥ ३२ ॥
कान्दिग्भूततया चेतो घनगर्द्धान्धमाकुलम् ।
परं मोहमुपादत्ते यूथभ्रष्टमृगो यथा ॥ ३३ ॥
शोच्यतां परमां याति तरुणस्तरुणीपरः ।
निबद्धः करिणीलोलो विन्ध्यखाते यथा गजः ॥ ३४ ॥
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥ ३५ ॥

परिणाम मैंने आप लोगोंसे कहा, उसमें आप लोग क्यों भ्रान्ति कर रहे हैं ? ऐसे नाशवान् स्त्रीके शरीरकी सुन्दरता और सत्यताका भ्रम निर्मूल है ॥ ३० ॥

स्त्री क्या है ? पांच भूतोंके समुदायसे बना हुआ अंगोंका संगठन ही स्त्री है । तनिक भी विवेक-बुद्धिवाला पुरुष रागका वशवर्ती होकर उसपर कैसे आसक्त हो सकता है, अर्थात् जो अज्ञानी हैं, वे भले ही उसे सत् या उपादेय समझें, पर ज्ञानी उसको कैसे उपादेय समझेगा ॥ ३१ ॥

जैसे शाखा-प्रशाखासे जटिल, बहुतसे कड़ुवे (कच्चे) और खट्टे (सूखे) फलोंसे लदी हुई सुतालालता (एक प्रकारकी जंगली लता) बड़ी ऊँचाई तक फैलती है, वैसे ही मनुष्योंकी कान्तानुसारिणी (स्त्रीके कारण होनेवाली) चिन्ता अनेक प्रकारकी शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त होती है, कड़ुवे (पारलौकिक दुःख) और खट्टे (कुछ सुखसे मिश्रित ऐहिक दुःख) फलोंसे पूर्ण होती हुई बहुत बड़े विस्तारको प्राप्त होती है ॥ ३२ ॥

जैसे अपने यूथसे बिछुड़ा हुआ हाथी मोहको प्राप्त होता है (किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है), वैसे ही उक्त चिन्तासे व्याकुल अतएव उत्कट धनाभिलाषासे अन्ध कहाँ जाऊँ, कहाँ धन मिलेगा, यों चिन्ताग्रस्त होकर मनुष्य अत्यन्त मोहको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

जैसे हथिनीको चाहनेवाला (हस्तिनीपर आसक्त) हाथी विन्ध्याचलके गड्ढेमें (हाथियोंको पकड़नेके लिए बनाये गये गड्ढेमें) बाँधा जाता है, वैसे ही स्त्री-लम्पट पुरुष वध, बन्धनरूप बड़ी शोचनीय अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

जिसकी स्त्री है, उसको भोगकी इच्छा होती है, जिसकी स्त्री नहीं है, उसे

आपातमात्ररमणेषु सुदुस्तरेषु भोगेषु नाऽहमलिपक्षतिचञ्चलेषु ।
ब्रह्मन् रमे मरणरोगजरादिभीत्या शाम्याम्यहं परमुपैमि पदं प्रयत्नात् ॥३६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
स्त्रीजुगुप्सानामैकविंशतितमः सर्गः ॥ २१ ॥

—०—

द्वाविंशतितमः सर्गः ॥ २२ ॥

श्रीराम उवाच

अपर्याप्तं हि बालत्वं बलात् पिबति यौवनम् ।
यौवनं च जरा पश्चात् पश्य कर्कशतां मिथः ॥ १ ॥

भोगकी संभावना ही कहाँ है, स्त्रीका यदि त्याग कर दिया तो जगत्का त्यागकर दिया, जगत्का त्याग करके सुखी होवे ॥ ३५ ॥

ब्रह्मन्, आपाततः (विचारके बिना) भले प्रतीत होनेवाले, भँवरके परोंकी जड़के समान चञ्चल और जिनसे निस्तार होना बड़ा कठिन है, ऐसे भोगोंकी, जन्म, मरण बुढ़ापा आदिके भयसे, मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है; मैं इनसे विरत होता हूँ और ऐसा प्रयत्न करूँगा जिससे कि मुझे परम पद प्राप्त हो जाय ॥३६॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

—०—

बाईसवाँ सर्ग

[शोक, मोह, इष्टवियोगका दुःख, रोग आदिसे परिपूर्ण तथा चिन्ता और तिरस्कारके घर वृद्धावस्थाकी निन्दा]

युवावस्थामें काम आदि दोष बड़े प्रबल रहते हैं, इसलिए युवकको भले ही सुख न हो, किन्तु वृद्धावस्थामें काम आदि दोषोंके शान्त हो जानेपर एवं विनीत पुत्र, पौत्र आदि द्वारा घरमें सेवा होनेपर वृद्धको तो अति आनन्द होता है, ऐसी शङ्का कर वृद्धावस्थामें अनन्त दुःखोंका विस्तारसे वर्णन करनेकी इच्छासे पहले 'अपने बच्चोंका नाश करनेवाले साँपोंको दूसरेके बच्चोंपर दया कैसे हो सकती है' इस न्यायसे वृद्धावस्था अति कठोर है, यह कहते हैं—'अपर्याप्तम्' इत्यादिसे ।

हिमाशनिरिवाऽम्भोजं वात्येव शरदम्बुकम् ।
देहं जरा नाशयति नदी तीरतरुं यथा ॥ २ ॥
जर्जरीकृतसर्वाङ्गी जरा जरठरूपिणी ।
विरूपतां नयत्याऽऽशु देहं विषलवो यथा ॥ ३ ॥
शिथिलादीर्णसर्वाङ्गं जराजीर्णकलेवरम् ।
समं पश्यन्ति कामिन्यः पुरुषं करभं यथा ॥ ४ ॥
अनायासकदर्थिन्या गृहीते जरसा जने ।
पलाय्य गच्छति प्रज्ञा सपत्न्येवाऽऽहताऽङ्गना ॥ ५ ॥

खेल-कूद, कौतूहल आदिकी अभिलाषाके पूर्ण न होनेपर ही युवावस्था आकर जबर्दस्ती बाल्यावस्थाको निगल जाती है, तदुपरान्त स्त्री-संभोग आदिकी इच्छाकी पूर्ति न होनेपर ही वृद्धावस्था आकर युवावस्थाकी स्वाहा कर देती है, अतः इन दोनोंकी (युवावस्था और वृद्धावस्थाकी) परस्पर कठोरताको देखिये । अर्थात् उसी शरीरमें होनेवाली बाल्यावस्थाको यौवन निगल गया अतएव यौवन कठोरतर हुआ, उक्त कठोरतर यौवनको निगलनेवाली वृद्धावस्था कठोरतम न होगी; तो क्या होगी ? ॥ १ ॥

पामर लोगोंके परम प्रेमपात्र विषयसुखके गृहभूत शरीरको ही जो वृद्धावस्था नष्ट-भ्रष्ट कर देती है, उसमें सुखकी आशा कहां ? ऐसा कहते हैं— **'हिमाशनि०'** इत्यादिसे ।

जैसे तुषाररूपी वज्र कमलोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, जैसे आँधी शरदृतुकी ओसको (पत्तोंके सिरेपर लटक रहे जलकणको) नष्ट कर देती है और जैसे नदी तटके वृक्षको उखाड़ देती है, वैसे ही वृद्धावस्था शरीरको नष्ट कर डालती है ॥२॥

यदि विषका छोटा-सा टुकड़ा खा लिया जाय, तो वह जैसे थोड़ी देरमें देहको कुरूप कर देता है, वैसे ही अङ्ग-प्रत्यङ्गको शिथिल करनेवाली एवं वृद्धकेसे स्वरूपवाली वृद्धावस्था देहको शीघ्र (आते ही) कुरूप कर देती है । यदि वृद्धावस्था स्वयं वृद्धरूप न होती, तो अन्योंको वृद्धरूप कैसे करती, ऐसा तर्क करके श्लोकमें जरठरूपिणी कहा है ॥ ३ ॥

जिनके सब अङ्ग शिथिल और छिन्नभिन्न हो गये हैं और वृद्धावस्थासे शरीर जर्जरित हो गया है, ऐसे सभी पुरुषोंको स्त्रियां ऊँटके समान समझती हैं ॥ ४ ॥

अनायास दीनताको प्राप्त करानेवाली वृद्धावस्था जब मनुष्यको पकड़ती है

दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव बान्धवाः सुहृदस्तथा ।
हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्द्धककम्पितम् ॥ ६ ॥
दुष्प्रेक्ष्यं जरठं दीनं हीनं गुणपराक्रमैः ।
गृध्रो वृक्षमिवाऽऽदीर्घं गर्द्धो ह्यभ्येति वृद्धकम् ॥ ७ ॥
दैन्यदोपमयी दीर्घा हृदि दाहप्रदायिनी ।
सर्वापदामेकसखी वार्द्धके वर्द्धते स्पृहा ॥ ८ ॥
कर्त्तव्यं किं मया कष्टं परत्रेत्यतिदारुणम् ।
अप्रतीकारयोग्यं हि वर्द्धते वार्द्धके भयम् ॥ ९ ॥
कोऽहं वराकः किमिव करोमि कथमेव च ।
तिष्ठामि मौनमेवेति दीनतोदेति वार्द्धके ॥ १० ॥

तब सौतसे तिरस्कृत (पीटी गई) स्त्रीके समान बुद्धि भागकर कहीं अन्यत्र चली जाती है ॥ ५ ॥

नौकर-चाकर, पुत्र, स्त्रियां, बन्धु-बान्धव और सगे-सम्बन्धी सभी लोग वृद्धावस्थासे काँप रहे मनुष्यका घृणित उन्मत्त पुरुषकी नाईं उपहास करते हैं ॥६॥

जैसे गृध्र फलयुक्त शाखा और टहनियोंके फैलावके कारण अन्य पक्षियोंके आक्रमणसे रहित अति उन्नत पुराने वृक्षपर आता है, वैसे ही कुरूप, वृद्ध, गुण और सामर्थ्यसे शून्य अतएव दीन वृद्ध पुरुषमें बड़ी अभिलाषा आती है ॥ ७ ॥

दीनतारूपी दोषसे परिपूर्ण, हृदयमें सन्ताप पहुँचानेवाली और सम्पूर्ण आपत्तियोंकी एकमात्र सहचरी बड़ी भारी तृष्णा वृद्धावस्थामें बढ़ती जाती है ॥८॥

खेद है, परलोकमें मैं क्या करूँगा, इस प्रकारका अतिभीषण भय, जिसका कोई प्रतीकार नहीं हो सकता, वृद्धावस्थामें बढ़ता जाता है ॥ ९ ॥

हे महर्षे, मैं कौन हूँ, बड़ा दुःखी-दीन हूँ, मैं क्या करूँ, कैसे करूँ, अच्छा चुपचाप मौन ही रहूँ, ऐसी दीनता वृद्धावस्थामें प्राप्त होती है अर्थात् वृद्धावस्थामें मैं दुःखी हूँ, मैं अकर्मण्य हूँ, मैं नितान्त हेय और तुच्छ हूँ, मैं क्या करूँ, मुझमें सामर्थ्य ही क्या है, किस प्रकार मैं अपना जीवननिर्वाह करूँ, मेरा बोलनेसे क्या प्रयोजन है, अच्छा, मैं मौन ही रहता हूँ, इत्यादि प्रकारकी दीनता उदित होती है ॥ १० ॥

कथं कदा मे किमिव स्वादु स्याद्भोजनं जनात् ।
इत्यजस्रं जरा चैषा चेतो दहति वार्द्धके ॥ ११ ॥
गर्द्धोऽभ्युदेति सोल्लासमुपभोक्तुं न शक्यते ।
हृदयं दह्यते नूनं शक्तिदौःस्थ्येन वार्द्धके ॥ १२ ॥
जराजीर्णबकी यावत् कायक्लेशापकारिणी ।
रौति रोगोरगाकीर्णा कायद्रुमशिरःस्थिता ॥ १३ ॥
तावदागत एवाऽऽशु कुतोऽपि परिदृश्यते ।
घनान्ध्यतिमिराकाङ्क्षी मुने मरणकौशिकः ॥ १४ ॥
सायंसन्ध्यां प्रजातां वै तमः समनुधावति ।
जरां वपुषि दृष्ट्वैव मृतिः समनुधावति ॥ १५ ॥
जराकुसुमितं देहद्रुमं दृष्ट्वैव दूरतः ।
अध्यापतति वेगेन मुने मरणमर्कटः ॥ १६ ॥

वृद्धावस्थामें, अपने आत्मीय जनोंसे मुझे किस प्रकार कब कुछ स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होगा, ऐसी चिन्तारूपी दूसरी जरा सदा चित्तको जलाती रहती है ॥ ११ ॥

वृद्धावस्थामें भोजनकी शक्ति होनेपर पचानेकी अशक्ति पचानेकी शक्ति होनेपर भोजनकी अशक्ति इत्यादि शक्तिह्रासके भोगकी इच्छा तो बड़ी प्रबल हो उठती है, पर उपभोग नहीं किया जा सकता और हृदय सदा जलता रहता है ॥ १२ ॥

मुनिवर, जब विविध दुःखोंसे शरीरका अपकार करनेवाली, रोगरूपी साँपोंसे व्याप्त वृद्धावस्थारूपी जीर्ण बगुली शरीररूपी वृक्षकी चोटीपर बैठकर बासती है, उसी समय निविड़ मूर्च्छारूपी अन्धकारको चाहनेवाला मृत्युरूपी उल्लू झटपट कहींसे आया हुआ ही दिखाई देता है ॥ १३, १४ ॥

जैसे सायंकालकी सन्ध्याके उत्पन्न होनेपर अन्धकार उसके पीछे दौड़ता है अर्थात् सायंकाल होनेके अनन्तर अन्धकार इधर-उधर व्याप्त हो जाता है, वैसे ही शरीरमें वृद्धावस्थाको देखकर ही काल लेनेके लिए समीपमें दौड़ कर आता है ॥१५॥

मुनिश्रेष्ठ, वृद्धावस्थासे कासकी नाईं फूला हुआ (सफेद केश और मोछ-दाढ़ीसे युक्त) देहरूपी वृक्षको दूरसे ही देखकर कालरूपी वन्दर बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़ता है अर्थात् जैसे फूलोंसे युक्त वृक्षको दूरसे ही देखकर बन्दर उसकी ओर दौड़ता है, वैसे ही वृद्धावस्थासे सफेद हुए शरीरकी ओर काल दौड़ता है ॥१६॥

शून्यं नगरमाभाति भाति च्छिन्नलतो द्रुमः ।
भात्यनावृष्टिमान् देशो न जराजर्जरं वपुः ॥ १७ ॥
क्षणाद्गिगरणायैव कासक्कणितकारिणी ।
गृध्रीवाऽऽमिषमादत्ते तरसैव नरं जरा ॥ १८ ॥
दृष्ट्वैव सोत्सुकेवाऽऽशु प्रगृह्य शिरसि क्षणम् ।
प्रलुनाति जरा देहं कुमारी कैरवं यथा ॥ १९ ॥
सीत्कारकारिणी पांसुपरुषा परिजर्जरम् ।
शरीरं शातयत्येषा वात्येव तरुपल्लवम् ॥ २० ॥
जरसोपहतो देहो धत्ते जर्जरतां गतः ।
तुषारनिकराकीर्णपरिम्लानाम्बुजश्रियम् ॥ २१ ॥

निर्जन नगरकी यथा कथंचित् कुछ शोभा हो भी सकती है, जिसकी सबकी-सब लताएँ कट चुकी हैं, वह वृक्ष भी कुछ शोभित हो सकता है, अनावृष्टिसे पीड़ित देशकी भी कुछ न कुछ शोभा हो सकती है, मगर वृद्धावस्थासे जर्जरित शरीरकी कुछ भी शोभा नहीं है, अर्थात् वह इन सब दृष्टान्तोंसे बढ़कर अभद्र है ॥१७॥

जैसे शब्द करनेवाली गृध्री निगलनेके ही लिए शीघ्र मांसके टुकड़ेको पकड़ लेती है, वैसे ही खांसीरूप शब्द करनेवाली वृद्धावस्था मनुष्यको निगलनेके लिए ही वेगसे पकड़ लेती है ॥ १८ ॥

जैसे बालिका उत्सुकताके साथ देखकर और सिर पकड़कर कमलके फूलको तोड़ लेती है, वैसे ही वृद्धावस्था भी बड़ी उत्सुकताके साथ देखकर और सिर पकड़कर देहको काट देती है, नष्टकर देती है ॥ १९ ॥

जैसे धूलिके कणोंसे कठोर और सी-सी कार करानेवाली (सी-सी शब्द करनेवाली) शिशिर ऋतुकी तेज वायु वृक्षके पल्लवोंको धूलिसे ध्वस्तकर छिन्न-भिन्न कर देती है, वैसे ही शरीरमें कम्प करानेवाली रूसीसे कठोर यह वृद्धावस्था शरीरको नष्ट कर देती है ॥ २० ॥

वृद्धावस्थासे तहस-नहस और जर्जरित शरीर तुषार (हिम) के कणोंसे व्याप्त अतएव म्लान (मुरझाये हुए) कमलकी समताको धारण करता है अर्थात् जैसे हिम-समूहसे आक्रान्त कमल मुरझा जाता है वैसे ही वृद्धावस्थासे आक्रान्त शरीर भी जीर्ण-शीर्ण हो जाता है ॥ २१ ॥

जरा ज्योत्स्नोदितैवेयं शिरःशिखरिपृष्ठतः ।
विकासयति संरब्धं वातकासकुमुद्वती ॥ २२ ॥
परिपक्वं समालोक्य जराक्षारविधूसरम् ।
शिरःकूष्माण्डकं भुङ्क्ते पुसां कालः किलेश्वरः ॥ २३ ॥
जराजह्नुसुतोद्युक्ता मूलान्यस्य निकृन्तति ।
शरीरतीरवृक्षस्य चलत्यायुषि सत्वरम् ॥ २४ ॥
जरामार्जारिका भुङ्क्ते यौवनाखुं तथोद्धता ।
परमुल्लासमायाति शरीरामिषगर्द्धिनी ॥ २५ ॥
काचिदस्ति जगत्यस्मिन्नाऽमङ्गलकरी तथा ।
यथा जराऽऽक्रोशकरी देहजङ्गलजम्बुकी ॥ २६ ॥

यह वृद्धावस्थारूपिणी चाँदनी सिररूपी पर्वतके शिखरसे उदित होते ही वातरोग और कासरोगरूपी कुईंको बड़े प्रयत्नसे विकसित करती है अर्थात् जैसे उदयाचलसे उदित होते ही चाँदनी यत्नपूर्वक कुईंको विकसित करती है वैसे ही प्रथम सिरमें आविर्भूत हुई वृद्धावस्था वातरोग और खाँसीको खूब बढ़ा देती है॥२२॥

भगवन्, कालरूपी स्वामी वृद्धावस्थारूपी लवणादि चूर्णसे धूसर पुरुषोंके सिररूपी कूष्माण्डको पका हुआ जानकर खा जाता है अर्थात् जैसें स्वामी (कृषक या अन्य कोई गृहस्थ, यतः वही उसको पैदा करता है; अतः वह स्वामी है) क्षार चूर्णसे धूसर कोहड़ेको पका हुआ जानकर खा जाता है, वैसे ही काल भी मनुष्योंके सिरको वृद्धावस्थासे सफेद हुआ देखकर खा जाता है ॥ २३ ॥

आयुरूपी प्रवाहके शीघ्र चलनेपर वृद्धावस्थारूपी गङ्गा लगातार प्रयत्नपूर्वक इस शरीररूपी तटवृक्षकी जड़ोंको काट डालती है, अर्थात् जैसे प्रवाहवेग होनेपर गङ्गा तीरस्थित वृक्षकी जड़ोंको काटकर उसे गिरा देती है, वैसे ही आयुके पूर्ण होनेपर वृद्धावस्था लगातार शरीरकी जड़ों (शरीरके आधार बल आदि) को काटकर उसे गिरा देती है ॥ २४ ॥

पहले वृद्धावस्थारूपी बिल्ली यौवनरूपी चूहेको खाती है, फिर उद्धत होकर उसे शरीरका मांस खानेकी इच्छा हो जाती है, तब तो उसकी उद्दण्डताका ठिकाना नहीं रहता ॥ २५ ॥

इस संसारमें ऐसी अमङ्गलकारिणी कोई नहीं है, जैसी कि रोदन करनेवाली

कासश्वाससीत्कारा दुःखधूमतमोमयी ।
जराज्वाला ज्वलत्येषा यस्याऽसौ दग्ध एव हि ॥ २७ ॥
जरसा वक्रतामेति शुक्लावयवपल्लवा ।
तात तन्वी तनुर्नृणां लता पुष्पानता यथा ॥ २८ ॥
जराकर्पूरधवलं देहकर्पूरपादपम् ।
मुने मरणमातङ्गो नूनमुद्धरति क्षणात् ॥ २९ ॥
मरणस्य मुने राज्ञो जरा धवलचामरा ।
आगच्छतोऽग्रे निर्याति स्वाधिव्याधिपताकिनी ॥ ३० ॥

(शब्द करनेवाली) देहरूपी जंगलकी शृगाली यह वृद्धावस्था है अर्थात् जैसे जंगलकी शृगालीके वासनेसे अमङ्गल होता है वैसा किसीसे नहीं होता । यह वृद्धावस्था भी ठीक सियारिनके समान है, यह भी रोदन करनेवाली है और सबसे बढ़कर दुःखदायिनी है ॥ २६ ॥

खाँसी और साँसके साँय-साँय शब्दसे युक्त दुःखरूपी धूम और कारिखसे पूर्ण यह वृद्धावस्थारूपी ज्वाला जलती है, जिसने इस देहको जला ही डाला अर्थात् गीली लकड़ियोंके जलनेपर ज्वाला सीं-सीं शब्द करती है और उसमें धुँआ और कारिख भी रहती है, अतएव जैसे सीं-सीं शब्दसे युक्त और धूममय और कारिखपूर्ण ज्वाला काष्ठको जला देती है वैसे ही कास, श्वासकी साँय-साँयसे युक्त और दुःखमय* यह वृद्धावस्था भी देहको जला देती है ॥२७॥

जैसे सफेद पल्लववाली और फूलोंसे लदी हुई छोटी लता, फूलोंके बोझको न सह सकनेके कारण, टेढ़ी हो जाती है, वैसे ही सफेद सम्पूर्ण अंगोंसे युक्त मनुष्योंका छोटा-सा शरीर वृद्धावस्थासे टेढ़ा हो जाता है ॥ २८ ॥

वृद्धावस्थारूपी कपूरसे सफेद देहरूपी केलेके पेड़को कालरूपी हाथी निःसन्देह एक क्षणमें उखाड़ कर फेंक देता है अर्थात् जैसे कपूरसे सफेद केलेके पेड़को हाथी अनायास उखाड़कर फेंक देता है वैसे ही मृत्यु भी वृद्धावस्थासे सफेद देहको निस्सन्देह क्षणभरमें उखाड़कर फेंक देती है ॥ २९ ॥

पीछेसे आनेवाले मृत्युरूपी राजाकी वृद्धावस्थारूपी सफेद चँवरोंसे युक्त

* वृद्धावस्थामें नेत्रोंकी ज्योतिके कुछ कम क्षीण होनेपर धूममय प्रकाश दिखाई देता है और बहुत अधिक क्षीण होनेपर अन्धकार हो जाता है, अतः धूममय और अन्धकारमय विशेषण भी जरामें लग सकते हैं ।

न जिताः शत्रुभिः संख्ये प्रविष्टा येऽद्रिकोटरे ।
ते जराजीर्णराक्षस्या पश्याऽऽशु विजिता मुने ॥ ३१ ॥
जरातुषारवलिते शरीरसदनान्तरे ।
शक्नुवन्त्यक्षशिशवः स्पन्दितुं न मनागपि ॥ ३२ ॥
दण्डतृतीयपादेन प्रस्खलती मुहुर्मुहुः ।
कासाधोवायुमुरजा जरा योषित् प्रनृत्यति ॥ ३३ ॥
संसारसंसृतेरस्या गन्धकुट्यां शिरोगता ।
देहयष्ट्यां जरानाम्नी चामरश्रीर्विराजते ॥ ३४ ॥

चिन्ता-व्याधिरूपी अपनी निजी सेना पहले निकलती है। अर्थात् जैसे कोई राजा जब कहीं जाता है, तब चँवरसे युक्त उसकी सेना पहले निकलती है वैसे ही यहां भी समझना चाहिए ॥ ३० ॥

मुनिवर, बड़े धैर्यसे दुर्गम पहाड़ोंकी खोहोंमें बैठे हुए जिन लोगोंको रणमें शत्रु नहीं हरा सके, उन्हें भी वृद्धावस्थारूपी वृद्ध राक्षसीने शीघ्र हरा दिया, यह आश्चर्य देखिये ॥ ३१ ॥

वृद्धावस्थारूपी हिमसे संकुचित (चारों ओर हिमसे पूर्ण हो जानेके कारण कम अवकाशवाले) शरीररूपी गृहके मध्यमें इन्द्रियरूपी बच्चे तनिक भी हिलने-डुलनेको समर्थ नहीं हो सकते अर्थात् जैसे हिमसे परिपूर्ण घरके अन्दर बालक इधर-उधर चल-फिर नहीं सकते, वैसे ही वृद्धावस्थासे पूर्ण शरीरमें इन्द्रियाँ अपना कुछ भी व्यापार नहीं कर सकतीं ॥ ३२ ॥

लट्ठीरूपी तीसरे पैरसे युक्त, बारबार लड़खड़ा रही तथा खाँसी और अपान वायुरूपी मुरजसे (पखावजसे) युक्त वृद्धावस्थारूपी स्त्री नाच कर रही है ॥ ३३ ॥

गन्ध अर्थात् रागद्वेष आदिसे चित्तको (दूसरे पक्षमें सभाको) वासित करनेवाला विषयभोग (और कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ) इस संसाररूपी राजाके व्यवहारसे सम्बन्ध रखनेवाली और विषयभोगकी कुटी (आश्रय) देहरूपी यष्टिके सिरपर बैठी हुई वृद्धावस्था नामक चँवरशोभा विराजमान है अर्थात् जैसे राजाके व्यवहारसे सम्बन्ध रखनेवाली और कस्तूरी आदि सुगन्धि पदार्थोंको रखनेकी यष्टिके ऊपर स्थित चामरश्री अपने अनुपम सौन्दर्य, सुगन्धि और मन्द-मन्द वायुके प्रसारसे शोभित होती है, वैसे ही विषयभोगकी आश्रयभूत इस देहमें सिरपर बैठी हुई जरा भी शोभित होती है ॥ ३४ ॥

जराचन्द्रोदयसिते शरीरनगरे स्थिते ।
क्षणाद् विकासमायाति मुने मरणकैरवम् ॥ ३५ ॥
जरासुधालेपसिते शरीरान्तःपुरान्तरे ।
अशक्तिरार्तिरापच्च तिष्ठन्ति सुखमङ्गनाः ॥ ३६ ॥
अभावोऽग्रेसरी यत्र जरा जयति जन्तुषु ।
कस्तत्रेह समाश्वासो मम मन्दमतेर्मुने ॥ ३७ ॥
किं तेन दुर्जीवितदुर्ग्रहेण जरागतेनाऽपि हि जीव्यते यत् ।
जरा जगत्यामजिता जनानां सर्वैषणास्तात तिरस्करोति ॥३८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
जराजुगुप्सानामद्वाविंशतितमः सर्गः ॥ २२ ॥

—०—

मुनीश्वर, वृद्धावस्थारूपी चन्द्रोदयसे शुभ्र (सफेद और प्रकाशमय) शरीर-
रूपी नगरमें स्थित जीविताशारूप तालाबमें मृत्युरूपी कुई क्षणभरमें विकासको
प्राप्त होती है अर्थात् जैसे चन्द्रमाके उदित होनेसे प्रकाशमय नगरमें स्थित
तालाबमें कुई शीघ्र विकसित हो जाती है, वैसे ही वृद्धावस्थासे सफेद हुए शरीरमें
स्थित जीविताशामें शीघ्र मृत्युका आविर्भाव हो जाता है ॥ ३५ ॥

वृद्धावस्थारूपी चूनेके लेपसे (पुताईसे) शुभ्र शरीररूपी अन्तःपुरके
(रनवासके) भीतर अशक्ति (सामर्थ्यका अभाव), पीड़ा और आपत्तिरूपी महि-
लाएँ बड़े चैनसे रहती हैं ॥ ३६ ॥

जिन जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जरूप चारप्रकारके शरीरोंमें पहले
वृद्धावस्था आक्रमण करती है और उसके आगे मृत्यु अवश्य आनेवाली है, उन्हीं
शरीरोंमें से एक इस शरीरमें (उन शरीरोंके ही सजातीय इस शरीरमें) मुझ
अतत्त्वज्ञका क्या विश्वास हो सकता है ? पहले वृद्धावस्थाका तदन्तर मृत्युका ग्रास
होनेवाले इस शरीरमें मेरी तनिक भी आस्था नहीं है, यह भाव है ॥ ३७ ॥

हे तात, जो वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर भी बना रहता है, उस दुष्ट जीवनके
दुराग्रहसे (दुरभिलाषासे) क्या प्रयोजन है अर्थात् कुछ भी नहीं, वह व्यर्थ ही है
क्योंकि वृद्धावस्था इस पृथिवीमें मनुष्योंकी सम्पूर्ण एषणाओंका तिरस्कार कर देती

त्रयोविंशतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

विकल्पकल्पनानल्पजल्पितैरल्पबुद्धिभिः ।
भेदैरुद्धुरतां नीतः संसारकुहरे भ्रमः ॥ १ ॥

है अर्थात् वृद्धावस्थाके आनेपर कोई भी पुरुष अपनी किसी इच्छाको पूर्ण नहीं कर सकता, इसलिए दुःखप्रद दुष्ट जीवनकी दुराग्रहपूर्वक इच्छा करना निष्फल ही है, यह भाव है ॥ ३८ ॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

——०——

तेईसवाँ सर्ग

[प्राणियोंके पुण्य और पापके बलसे उत्कृष्ट अपनी चेष्टाओं द्वारा प्राणियोंसे कर्म करा रहे कालका वर्णन]

इस प्रकार भोग्य श्री, भोगतृष्णा और भोगकालके—बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्थाके—दोषोंका विस्तारपूर्वक वर्णन कर और ये अन्तमें केवल असीम दुःखके ही कारण होते हैं, ऐसा उपपादन कर श्रीरामचन्द्रजीने ऐहिक और पारलौकिक पदार्थ और उनके फलोंमें अपना वैराग्य दर्शाया । अब काम आदिके स्वभावके वर्णन द्वारा नित्य और अनित्य पदार्थोंका विवेक दर्शानेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'विकल्प०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, मेरी यह भोग्य वस्तु है, मैं इसका भोग करनेवाला हूँ, ये भोगके उपकरण हैं, इस उपकरणसे (साधनसे) इस वस्तुको हस्तगत कर मैं चिरकालतक इसका भोग करूँगा, मेरा यह मनोरथ आज पूर्ण हो गया, मुझे आशा है कि इस दूसरे मनोरथको भी मैं शीघ्र प्राप्त कर लूँगा इत्यादि असङ्ख्य मानसिक सङ्कल्प-विकल्पों द्वारा अनन्त व्यावहारिक वचनोंसे पूर्ण एवं तुच्छ शरीरमें आत्मबुद्धि करनेवाले या अल्प वैषयिक सुखमें पुरुषार्थ-बुद्धि करनेवाले मूढ़जनोंने शत्रु, मित्र, उदासीन आदि भेदोंसे, हेय, उपादेय और उपेक्षणीय आदि भेदोंसे और तत्प्रयुक्त राग-द्वेषादिभेदोंसे संसाररूपी छिद्रमें अन्यथाग्रहरूपी भ्रमको दुरुच्छेद्य बना दिया है ॥ १ ॥

सतां कथमिवाऽऽस्थेह जायते जालपञ्जरे ।
बाला एवाऽत्तुमिच्छन्ति फलं मुकुरबिम्बितम् ॥ २ ॥

इहाऽपि विद्यते येषां पेलवा सुखभावना ।
आखुस्तन्तुमिवाऽशेषं कालस्तामपि कृन्तति ॥ ३ ॥

न तदस्तीह यदयं कालः सकलघस्मरः ।
ग्रसते तज्जगज्जातं प्रोत्थाब्धिमिव वाडवः ॥ ४ ॥

समस्तसामान्यतया भीमः कालो महेश्वरः ।
दृश्यसत्तामिमां सर्वां कवलीकर्तुमुद्यतः ॥ ५ ॥

महतामपि नो देवः प्रतिपालयति क्षणम् ।
कालः कवलितानन्तविश्वो विश्वात्मतां गतः ॥ ६ ॥

जालके समान दूरसे ही आकृष्ट कर बाँधनेवाले विषयों तथा पिंजड़ेके समान परिच्छिन्न स्थानमें बाँधनेवाले देहके समूहरूप इस अवस्तुभूत संसारमें विवेकियोंको कैसे आदर हो सकता है ? दर्पणमें प्रतिबिम्बित फलको बालक ही खानेकी इच्छा करते हैं, विवेकी नहीं । भाव यह है कि जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बित फलको खानेकी इच्छा करना मूर्खता है, वैसे ही अवस्तुभूत इस संसारमें आस्था करना मूर्खता ही है ॥ २ ॥

इस प्रकारके अवस्तुभूत संसारमें जिनको क्षुद्र सुखकी आशा होती है, उनकी उस आशाको काल, जैसे तृणके सिरेसे कुँएमें लटक रहे मकड़ीके जालेको चूहा पूर्णतया काट देता है वैसे ही, निःशेषरूपसे काट देता है ॥ ३ ॥

जैसे वाडवाग्नि चन्द्रोदय आदिसे उमड़े हुए समुद्रको नष्ट करती है, वैसे ही इस संसारमें उत्पन्न हुई ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसे यह सर्वभक्षी काल न नष्ट करता हो, अर्थात् जैसे वाड़वाग्नि प्रतिदिन समुद्रको सोखती है, वैसे ही यह सर्वभक्षी काल भी प्रत्येक वस्तुको निगलता है ॥ ४ ॥

भयङ्कर रुद्ररूपी काल सर्वसाधारणरूपसे इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चको निगलनेके लिए सदा उद्यत रहता है । असंख्य ब्रह्माण्डोंको अपने उदरस्थ करनेके कारण सर्वात्मताको प्राप्त हुआ, यह काल बल, बुद्धि और वैभव आदिसे महान् भूतोंके लिए एक क्षणभर भी नहीं ठहरता अर्थात् सबको तुरन्त नष्ट कर देता है ॥५, ६॥

युगवत्सरकल्पाख्यैः किञ्चित्प्रकटतां गतः ।
रूपैरलक्ष्यरूपात्मा सर्वमाक्रम्य तिष्ठति ॥ ७ ॥
ये रम्या ये शुभारम्भा सुमेरुगुरवोऽपि ये ।
कालेन विनिगीर्णास्ते गरुडेनेव पन्नगाः ॥ ८ ॥
निर्दयः कठिनः क्रूरः कर्कशः कृपणोऽधमः ।
न तदस्ति यदद्याऽपि न कालो निगिरत्ययम् ॥ ९ ॥
कालः कवलनैकान्तमतिरत्ति गिरन्नपि ।
अनन्तैरपि लोकौघैर्नाऽयं तृप्तो महाशनः ॥ १० ॥
हरत्ययं नाशयति करोत्यत्ति निहन्ति च ।
कालः संसारनृत्तं हि नानारूपं यथा नटः ॥ ११ ॥

युग, वर्ष और कल्प नामक क्रियोपाधिक (क्रिया द्वारा प्राप्त) रूपोंसे काल अंशत ही प्रकट है, उसका वास्तविक रूप कोई नहीं देख सकता । वह संसारकी सम्पूर्ण वस्तुओंको अपने वशमें करके बैठा है ॥ ७ ॥

जैसे गरुड़ साँपोंको निगल जाता है, वैसे ही काल भी जो अनुपम रूपसे सम्पन्न थे, जो पुण्यात्मा थे और जो सुमेरु पर्वतके समान गौरवान्वित थे, उन्हें हड़प कर गया ॥ ८ ॥

यह काल बड़ा निर्दय, पत्थरके समान कठोर, बाघ आदिके समान क्रूर, आरेके तुल्य कर्कश, कृपण और अधम है। आज तक ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी गई, जिसे इस कालने अपनी गालमें न समा लिया हो ॥ ९ ॥

इसका चित्त सदा निगलनेमें ही लगा रहता है, यह एकको निगलता हुआ दूसरेको निगलता है । असंख्य लोग इसकी उदरदरीमें समा चुके हैं, पर यह ऐसा पेटू है कि इसे तृप्ति ही नहीं हुई अर्थात् अब भी यह अपने उसी स्वाभाविक वेगसे जीवोंको लगातार निगलता जा रहा है ॥ १० ॥

जैसे ऐन्द्रजालिक अपेने विविध खेलोंको आरम्भ करता है, उनका अन्त कर डालता है, उनको बिगाड़ देता है, कोई खाद्य पदार्थ बनाकर उसे खा जाता है और बरबाद कर देता है, वैसे ही यह काल भी अपने विंविधरूपवाले संसार-रूपी नृत्यको आरम्भ करता है, बन्द कर देता है, बिगाड़ देता है, खा जाता है और नष्ट कर देता है अर्थात् धन-सम्पत्ति आदिमें जो कुछ भी हरण, नाश, व्यय

भिनत्ति प्रविभागस्थभूतबीजान्यनारतम् ।
जगत्यसत्तया बन्धाद्दाडिमानि यथा शुकः ॥ १२ ॥
शुभाशुभविषाणाग्रविलूनजनपल्लवः ।
स्फूर्जति स्फीतजनताजीवराजीवनीगजः ॥ १३ ॥
विरिञ्चिमूलब्रह्माण्डबृहद्देवफलद्रुमम् ।
ब्रह्मकाननमाभोगि परमावृत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥
यामिनीभ्रमरापूर्णा रचयन् दिनमञ्जरीः ।
वर्षकल्पकलावल्लीर्न कदाचन खिद्यते ॥ १५ ॥

आदि होते हैं, उन सबको हरणकर्ता, नाशकर्ता आदिके रूपसे स्थित काल ही करता है, दूसरा नहीं ॥ ११ ॥

जैसे सुग्गा दाड़िमके फलको तोड़कर उसके भीतरके बीजोंको खा जाता है, वैसे ही यह काल भी इस जगत्‌में व्याकृतावस्थामें स्थित भूतोंको (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेदसे चार प्रकारके प्राणियोंको) नाश द्वारा असत् बनाकर, तोड़-मरोड़ कर खा जाता है ॥ १२ ॥

शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) रूप दाँतोसे मनुष्यरूपी पल्लवोंको छिन्न-भिन्न करनेवाला अभिमानपूर्ण जनताके जीवसमूहरूपी महारण्यमें रहनेवाला गजरूप यह काल बड़े जोरसे चिंघाड़ता है अर्थात् जैसे महारण्यमें रहनेवाला और अपने दाँतोंसे वृक्षोंके पल्लवोंको छिन्न-भिन्न करनेवाला हाथी बड़े जोरसे दहाड़ मारता है, वैसे ही पुण्य-पापरूपी अपने दाँतोंसे प्राणियोंको चबा डालनेवाला और दर्पपूर्ण जनताके जीवसमूहरूपी महारण्यका गज यह काल बड़े जोरसे दहाड़ता है, गरजता है ॥ १३ ॥

अपञ्चीकृत पञ्चभूतोंसे उत्पन्न ब्रह्माण्डरूपी महान् और देवतारूपी फलोंसे युक्त वृक्षोंसे पूर्ण [अर्थात ब्रह्मरूपी काननमें अपञ्चीकृत पञ्चभूतोंसे उत्पन्न अनेक ब्रह्माण्ड ही महान् वृक्ष हैं, और देवता ही ब्रह्माण्डरूपी महावृक्षोंके फल हैं] और मायिक जगत्-रूपसे युक्त (सप्रपञ्च) ब्रह्मरूपी महावनको [दुस्तर होनेके कारण ब्रह्मको महावन कहा]. पूर्णरूपसे आवृत करके (ढककर) यह काल बैठा है, क्योंकि कालके उदरमें ही सब वस्तुओंकी उत्पत्ति, स्थित्ति और विनाश देखा जाता है, यह भाव है ॥ १४ ॥

यह काल रात्रिरूपी भँवरोंसे चारों ओर व्याप्त और दिनरूपी मञ्जरियोंसे

भिद्यते नाऽवभग्नोऽपि दग्धोऽपि हि न दह्यते ।
दृश्यते नाऽपि दृश्योऽपि धूर्तचूडामणिर्मुने ॥ १६ ॥
एकेनैव निमेषेण किञ्चिदुत्थापयत्यलम् ।
किञ्चिद्विनाशयत्युच्चैर्मनोराज्यवदाततः ॥ १७ ॥
दुर्विलासविलासिन्या चेष्टया कष्टपुष्टया ।
द्रव्यैकरूपकृद्रूपं जनमावर्त्तयन् स्थितः ॥ १८ ॥
तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुमेरुं पर्णमर्णवम् ।
आत्मम्भरितया सर्वमात्मसात्कर्त्तुमुद्यतः ॥ १९ ॥

शोभित वर्ष, कल्प (ब्रह्माका दिन) और कलारूपी * लताएँ बराबर बनाता रहता है पर इसे कभी कुछ भी परिश्रम नहीं होता, जिससे कि यह अपने व्यापारसे विरत हो ॥ १५ ॥

मुनिवर, यह काल धूर्तोंका सिरताज है, इसे कितना ही तोड़ो पर यह टूटता नहीं, जलानेपर जलता नहीं और दृश्य होनेपर भी स्वरूपसे नहीं दिखाई देता, इसकी धूर्तताकी सीमा नहीं है ॥ १६ ॥

सर्वव्यापक यह काल मनोराज्यके अनुरूप है । जैसे मनोराज्य एक पलकमें किसी वस्तुके स्वरूपको हूबहू खड़ाकर देता और किसीको बिलकुल विनष्ट कर डालता है, वैसे ही यह काल भी एक ही पलकमें किसी वस्तुको सर्वाङ्गपूर्ण बनाकर खड़ा कर देता है और किसी वस्तुको निश्शेष विनष्ट कर देता है, इसलिए इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है ॥ १७ ॥

यह काल अपने दुर्विलासोंमें विलास करनेवाली प्राणियोंके कष्टसे ही परिपुष्ट हुई चेष्टारूप भार्या द्वारा भौतिक देह, इन्द्रिय आदि द्रव्योंमें तादात्म्याध्यास होनेके कारण अपने वास्तविक स्वरूपको न जाननेवाले जीवको स्वर्ग और नरकमें घुमा रहा है ॥ १८ ॥

यह काल बड़ा पेटू है, इसको सदा अपने पेट भरनेकी ही चिन्ता रहती है, चाहे तिनका हो, चाहे धूलि हो, चाहे इन्द्र हो, चाहे सुमेरु हो, चाहे पत्ता हो, चाहे समुद्र हो, सभीको अपने अधीन करनेके लिए—निगलनेके लिए—उद्यत रहता है ॥ १९ ॥

---

* १८ निमेषकी १ काष्ठा, ३० काष्ठाकी १ कला, ३० कलाका १ क्षण, १२ क्षणका १ मुहूर्त, ३० मुहूर्तका १ अहोरात्र (रात्रिदिन) इस प्रकार आजकलके मानसे १ कला = $\frac{२}{१५}$ मिनट या ८ सेकण्ड है ।

क्रौर्यमत्रैव पर्याप्तं लुब्धताऽत्रैव संस्थिता ।
सर्वदौर्भाग्यमत्रैव चापलं वाऽपि दुःसहम् ॥ २० ॥
प्रेरयन् लीलयाऽर्केन्दू क्रीडतीव नभस्तले ।
निक्षिप्तलीलायुगलो निजे बाल इवाङ्गणे ॥ २१ ॥
सर्वभूतास्थिमालाभिरापादवलिताकृतिः ।
विलसत्येव कल्पान्ते कालः कलितकल्पनः ॥ २२ ॥
अस्योद्दामरवृत्तस्य कल्पान्तेऽङ्गविनिर्गतैः ।
प्रस्फुरत्यम्बरे मेरुर्भूर्जत्वगिव वायुभिः ॥ २३ ॥
रुद्रो भूत्वा भवत्येष महेन्द्रोऽथ पितामहः ।
शक्रो वैश्रवणश्चाऽपि पुनरेव न किंचन ॥ २४ ॥

यह काल इतना क्रूर है मानो संसारभरकी सम्पूर्ण क्रूरता इसीमें कूट-कूट भरी गई है, यह लोभी इतना है कि संसारभरकी लुब्धता इसे अपना घर बनाये है, सम्पूर्ण दौर्भाग्योंका यह आकर है और दुःसह चपलता भी इसीमें है अर्थात् यह परले सिरेका क्रूर, बेजोड़ लोभी, नितान्त अभागा और महाचपल है ॥ २० ॥

जैसे बालक अपने आँगनमें खेलके गेंदोंको बारबार उछालता है, वैसे ही यह क्रूरतम काल खेलके (मन बहलावके) लिए सूर्य और चन्द्रमाको आदेश देकर आकाशमें मानो खेलता है ॥ २१ ॥

प्रलयकालमें यह काल सब प्राणियोंको नष्टकर और अपने शरीरको उनकी (सब प्राणियोंकी) हड्डियोंकी मालाओंसे पैर तक ढककर खूब शोभित होता है ॥२२॥

प्रलयके समय निरङ्कुश चरित्रवाले इस कालके अंगोंसे निकले हुए वायुओंसे विशाल सुमेरु पर्वत भूर्जपत्रके समान आकाशमें फड़फड़ाता है अर्थात् चारों ओरसे टूटने फूटने लगता है । भाव यह है कि जैसे वायुसे अतिकोमल भूर्जपत्र फटकर नष्ट हो जाता है, वैसे ही इस निरङ्कुशशिरोमणिके शरीरसे निर्गत वायुओंसे विशालतम सुमेरु पर्वत आकाशमें उड़कर विशीर्ण हो जाता है ॥ २३ ॥

यह काल रुद्रका रूप धारण कर महेन्द्रका रूप धारण करता है, फिर ब्रह्माका रूप धारण करता है, फिर इन्द्र होता है और फिर कुबेर होता है, और अन्तमें कुछ भी नहीं अर्थात् प्रलयमें पर्यवसित हो जाता है ॥ २४ ॥

ध्वत्तेऽजस्रोत्थितोऽधस्तात् सर्गानमितभास्वरान् ।
अन्यान्दधद्दिवानक्तं वीचीरब्धिरिवाऽऽत्मनि ॥ २५ ॥
महाकल्पाभिधानेभ्यो वृक्षेभ्यः परिशातयन् ।
देवासुरगणान्पक्वान्फलभारानिव स्थितः ॥ २६ ॥
कालोऽयं भूतमशकघुंघुमानां प्रपातिनाम् ।
ब्रह्माण्डोदुम्बरौघानां बृहत्पादपतां गतः ॥ २७ ॥
सत्तामात्रकुमुद्वत्या चिज्ज्योत्स्नापरिफुल्लया ।
वपुर्विनोदयत्येकं क्रियाप्रियतमान्वितः ॥ २८ ॥
अनन्तापारपर्यन्तबद्धपीठं निजं वपुः ।
महाशैलवदुत्तुङ्गमवलम्ब्य व्यवस्थितः ॥ २९ ॥

जैसे सदा परिपूर्ण सागर रात-दिन अपनेमें अन्य तरङ्गोंको धारण धारण करता हुआ पहलेकी बड़ी-बड़ी तरङ्गोंको नीचेकर देता है अर्थात् अपनेमें विलीन कर देता है, वैसे ही तत्परतापूर्वक रात-दिन अन्य नई-नई सृष्टियोंको करता हुआ यह काल पूर्वकी अति देदीप्यमान सृष्टियोंको नष्टकर देता है ॥ २५ ॥

यह काल महाकल्परूपी वृक्षोंसे देवता, मनुष्य और राक्षसरूपी पके हुए फलोंको गिरा रहा है ॥ २६ ॥

यह काल प्राणिरूपी बहुत छोटे-छोटे मच्छरोंसे घुम्, घुम् ऐसा शब्द कर रहे और शीघ्र गिरनेवाले ब्रह्माण्डरूपी गूलरके फलोंका बड़ा भारी वृक्ष है अर्थात् जैसे छोटे-छोटे मच्छरोंसे गूज रहे शीघ्र गिरनेवाले गूलरके फल गूलरके पेड़में होते हैं, वैसे ही प्राणियोंके शब्दोंसे गूँज रहे और शीघ्र गिरनेवाले ब्रह्माण्डरूपी फलोंका आश्रयभूत महावृक्ष यह काल है। जैसे गूलरके फलोंका उत्पादक गूलरका वृक्ष है, वैसे ही उक्त ब्रह्माण्डोंका उत्पादक यह काल है, यह भाव है ॥ २७ ॥

तत्-तत् प्राणियोंके शुभाशुभक्रिया (पुण्य-पाप) रूप प्रियतमासे युक्त काल सबके अधिष्ठानभूत चित्रूप (चैतन्यरूप) चाँदनीके केवल सन्निधानसे प्रकट हुई जगत्की सत्तारूपी कुइँयोंसे पूर्ण सरसीसे अपने अद्वितीय स्वरूपको विनोदित करता है। विहारकौतुकसे काल्यापन ही विनोद है। यहांपर काल ही विहार करनेवाला है। विहार करनेवाला काल जिस कालका यापन करे ऐसा दूसरा काल प्रसिद्ध नहीं है, अतः स्वशरीरको ही विनोदित करता है, यह भाव है ॥२८॥

जैसे महापर्वत (हिमालय) पृथिवीमें पूर्व और उत्तरकी सीमासे शून्य प्रदेशमें

श्रीमद्भगवद्गीता

सानुवादशङ्करानन्दीव्याख्यासहित

अनुवादक—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी

विषय-सूची

प्राचीनकर्मफलानुभूत्यै पुनःपुनर्भवन्ति जायन्त इति भूतानि प्राणिनस्तेषां सर्वेषां भूतानां स्थितप्रज्ञव्यतिरिक्तानां सर्वभूतानां या निशा भवति 'तेजः परस्यां देवतायाम्' इत्यादिश्रुत्युक्ता या परदेवता सर्वप्रमाणागोचरा निर्विशेषा सत्तामात्रा स्वयं निशेव भवति । यथा निशा नितरां शेरते प्राणिनो यत्र सा निशा तमिस्रा रात्रिः सर्वव्यापकत्वेन दृष्टेः प्रवेष्टुमशक्यत्वेन सर्वपदार्थानां स्वमात्रत्वापादनेन च भूतानां मनुष्यादीनां व्यवहर्तुमशक्या भवति, तथा सेयं परदेवताऽपि सर्वव्यापकत्वादिधर्मैः सर्वभूतानां व्यवहर्तुमशक्यत्वान्निशेत्युच्यते । शं सुखं नितरां सुखरूपत्वान्निशा तस्यां निशायामत्यन्तसुखरूपायां परस्यां देवतायां परे ब्रह्मण्यानन्दघने स्वयमविद्यानिद्राप्रबुद्धः संयमी बहिःप्रवृत्तिनिवृत्तसर्वेन्द्रियो ब्रह्मविदेक एव जागर्ति । तत्रैवाऽऽरमति क्रीडत्यानन्दति । तदन्ये तु शेरते श्रुतवेदान्ता अपि निद्रिता इव तत्स्वरूपं किमपि न जानन्तीत्यर्थः । यस्यामविद्यायां द्रष्टृदर्शनदृश्यादिभेदवत्यां भूतानि जाग्रति अहं ममेदमिष्टमनिष्टमिदं कार्यमिदमकार्यमिति व्यवहरन्ति सा त्वविद्या द्वैतभूमिः पश्यतः द्रष्टारं दर्शनं दृश्यं च सर्वं प्रत्यग्दृष्ट्या ब्रह्मैव पश्यतो मुनेर्ब्रह्मनिष्ठस्य निशा भवति । यथा निशायां प्राणिनो न व्यवहरन्ति तथाऽयमविद्यानिशायामहं ममेति न व्यव-

---

पहले अनुष्ठित कर्मोंके फलका अनुभव करनेके लिए जो बारम्बार होते हैं यानी जन्म लेते हैं, वे भूत (प्राणी) कहलाते हैं, उन सब भूतोंकी यानी स्थितप्रज्ञसे भिन्न सब प्राणियोंकी जो रात है यानी 'तेज परदेवतामें' इत्यर्थक श्रुतियोंमें कही हुई सब प्रमाणोंकी अविषय, निर्विशेष सत्तामात्ररूप परदेवता स्वयं रात्रिके समान है। जैसे निशा यानी जिसमें प्राणी बिलकुल सो जाते हैं, ऐसी अंधेरी रात्रि, सर्वव्यापक होनेसे उसमें दृष्टिका प्रवेश न हो सकनेके कारण, सब पदार्थोंको स्वस्वरूप बनाकर मनुष्य आदि भूतोंके व्यवहारकी अविषय होती है, वैसे ही यह परदेवता भी सर्वव्यापकत्व आदि धर्मोंसे सब भूतोंके व्यवहारकी विषय नहीं होती, इसलिए निशा कहलाती है ।

'शम्' सुखका नाम है, अत्यन्त सुखरूप होनेसे वह निशा है, उस निशामें यानी अत्यन्त सुखरूप परदेवतामें—आनन्दरूप परब्रह्ममें—स्वयं अविद्यारूप निद्रासे जागता हुआ एक संयमी—बाहरकी प्रवृत्तिसे सब इन्द्रियोंको रोकनेवाला ब्रह्मवित्— ही जागता है। उसीमें रमता है, क्रीड़ा करता है, आनन्द करता है। उससे अन्य तो सोते हैं यानी श्रुतवेदान्त पुरुष भी निद्रालुके समान उसके स्वरूपको कुछ भी नहीं जानते, यह भाव है। जिस द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि भेदवाली अविद्यामें भूत जागते हैं यानी मैं, मेरा, यह इष्ट है, यह अनिष्ट है, यह कार्य है, और यह अकार्य है, ऐसा व्यवहार करते हैं, वह अविद्या—द्वैतभूमि—तो द्रष्टा और दर्शनको प्रत्यग्दृष्टिसे ब्रह्मरूप देखनेवाले ब्रह्मनिष्ठ मुनिकी निशा है। जैसे प्राणी रात्रिमें व्यवहार नहीं करते, वैसे ही यह मुनि अविद्यारूप रात्रिमें 'मैं, मेरा' इत्यादि व्यवहार नहीं करता। मैं, मेरा इत्यादि प्रत्ययकी हेतु अनादि अविद्याकी वासनाओंके

हरति । अहं ममेत्यादिप्रत्ययहेतूनामनाद्यविद्यावासनां निःशेषविनष्टत्वेन तद्बुद्धेर्ब्रह्ममय्याः प्रवेष्टुमशक्यत्वादत्राऽहं ममेदमिति प्राकृतमेव व्यवहारं न करोति, कुत एवंलक्षणस्याऽस्य विदुषो वैदिकव्यवहारः सिध्यतीत्यर्थः । यद्वा 'अधीहि भगवो ब्रह्मविद्यां वरिष्ठाम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धा या ब्रह्मविद्या 'सर्वभूतानां सर्वेषां प्राणिनां निशा भवति । स्वयं चिदाकृत्या सूर्यप्रभावत्प्रकाशरूपाऽपि सुदृष्टिशून्यानां निशेव भवतीति निशेत्युच्यते । यथा प्रसिद्धनिशा स्वकीयतमःशक्त्या नामरूपभेदमपास्य सर्वं वस्तुजातं तमोमात्रं कृत्वा स्वयमेव सर्वत्र विजृम्भते तथैवैषा ब्रह्मविद्या स्वकीयचिच्छक्त्या नामरूपभेदमपोह्य सर्वं दृश्यजातं चिन्मात्रं कृत्वा स्वयमेकैव सर्वत्र विजृम्भते । यत्र निशायामिव अज्ञास्तज्ज्ञाश्च सर्वे व्यवस्थानरूपान् स्वप्नान् पश्यन्तः शेरते, तस्यां ब्रह्मविद्यायां संयमी वहिःप्रवृत्तिशून्यः स्थितप्रज्ञो ब्रह्मविदेक एव जागर्ति । आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मज्योतिरात्मानन्दो भूत्वा सर्वदाऽऽस्ते । यस्यामविद्यायां सर्वाणि भूतानि जाग्रति त्वमहमिदमद इति व्यवहरन्ति सा त्वविद्या द्वैतावस्था पश्यतो द्रष्टारं दर्शनं दृश्यं च सर्वं मिथ्येवेति पश्यतो ब्रह्मविदो निशा भवति । यथा प्राणिनां ब्रह्मविद्या निशा तथा ब्रह्मविदोऽप्यविद्या निशा । ब्रह्मविद्यया ब्रह्मैवाऽहमिति स्वमानन्दैकरसं परिपूर्णं विषयीकर्तुं यथैवाऽज्ञाः न शक्नु-

---

निःशेष नष्ट हो जानेके कारण वह (द्वैतभूमि) उक्त ब्रह्ममयी बुद्धिमें प्रवेश नहीं कर सकती, अतः ज्ञानदशामें मैं, मेरा, यह, ऐसा प्राकृत व्यवहार ही जब मुनि नहीं करता, तब उक्त लक्षणवाले विद्वान्का वैदिक व्यवहार कहांसे सिद्ध होगा, यह अर्थ है । अथवा 'हे भगवन्, श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या पढ़ाइये' इत्यर्थक श्रुतिसे प्रसिद्ध जो ब्रह्मविद्या है, वह सब भूतोंकी—प्राणियोंकी—निशा है अर्थात् सूर्यके समान स्वयं चिदाकारसे प्रकाशरूप होनेपर भी वह ब्रह्मविद्या सुदृष्टिसे रहित प्राणियोंके लिए निशाके समान है, इसलिए वह निशा कहलाती है । जैसे प्रसिद्ध रात्रि अपनी अन्धकाररूप शक्तिसे नामरूपात्मक भेदको दूर करके सब वस्तुओंको अन्धकारमय बनाकर आप ही सर्वत्र फैल जाती है, वैसे ही यह ब्रह्मविद्या अपनी चित्-शक्तिसे नामरूपात्मक भेदको दूर करके सब दृश्य-समूहको चिन्मात्र बनाकर स्वयं एक होकर ही सर्वत्र व्यापक हो जाती है । जिसमें रात्रिके समान अज्ञानी और उसके ज्ञानी सब व्यवस्थानरूप स्वप्नोंको देखते हुए सोते हैं, उस ब्रह्मविद्यामें बाहरकी प्रवृत्तिसे शून्य अकेला स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवित् संयमी ही जागता है । आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन, आत्मज्योति और आत्मानन्द होकर सर्वदा स्थित रहता है । जिस अविद्यामें सब भूत जागते हैं—तू, मैं, यह, वह, ऐसा व्यवहार करते हैं—वह द्वैतावस्थारूप अविद्या, तो देखनेवालेकी यानी द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सब मिथ्या ही हैं, ऐसा देखनेवाले ब्रह्मवित्की रात है । जैसे प्राणियोंकी ब्रह्मविद्या रात है, वैसे ही ब्रह्मवित्की अविद्या रात है अर्थात् जैसे अज्ञानी ब्रह्मविद्या द्वारा 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार अपनेको आनन्दैकरस और परिपूर्ण जान नहीं सकते, वैसे ही यह ब्रह्मवित् अविद्या द्वारा

वन्ति तथैवाऽयं ब्रह्मविदविद्ययाऽहं ममेदमिति देहेन्द्रियादिकं विषयीकर्तुं न शक्नोतीत्यर्थः। तत एवाऽस्य लौकिके वैदिके च कर्मण्यनधिकारः, योग्यत्वाभावात्। यस्य देहतदाश्रितवर्णजात्यादावभिमानः फलार्थित्वं ममेदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति क्रियासु गुणदोषदर्शनं च विद्यते तस्यैव कर्मणि योग्यता दृश्यते न तूक्तलक्षणशून्यस्य। नहि नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठया निरूढविज्ञानबलेनाऽविद्यां तत्कार्यं चाऽध्यासादिकं निर्मूल्य ब्रह्मतादात्म्यमापाद्य ब्रह्मैवाऽहमिति सर्वदा ब्रह्मण्येव तदात्मना तिष्ठतो विदुषः पुनः शरीरतादात्म्यापत्तिस्तत्राऽहंममेत्यभिमानश्च संभवति। तदसंभवे तत्राऽऽरोपितवर्णजात्याद्यभिमानोऽपि न सिध्यति। तदसिद्धौ सर्वमिथ्यात्वदर्शिनः फलाभिसंध्यसिद्धेः क्रियासु गुणदोषदर्शनासिद्धेश्च। सत्येवं न विदुषः कर्मण्यधिकार उपयुज्यते, सर्वमिथ्यात्वदर्शनस्य प्रवृत्तेश्च परस्परविरुद्धत्वादेकाधिकरणत्वानुपपत्तेः। वस्तुनः सत्यत्वनिश्चयधीपूर्विका प्रवृत्तिर्भ्रमकल्पितत्वनिश्चयधीमूलकं मिथ्यात्वज्ञानं ततस्तयोः परस्परविरुद्धत्वमेकाधिकरणत्वानुपपत्तिश्च। ननु कर्ता करणं कार्यं च सर्वं मिथ्यैवेति विदुषा कर्म क्रियताम्, मिथ्यात्वेन कृतं कर्म बन्धाय न भवतीति चेत्, न; मिथ्यात्वज्ञानस्य प्रवृत्तिविरोधान्नेदं जलम्, किन्तु मरुरेवेति जलमिथ्यात्ववेदिनस्तृषि-

---

'मैं, मेरा' इत्यादिरूपसे देह, इन्द्रिय आदिको जान नहीं सकता, यह भाव है। इसलिए योग्यताका अभाव होनेसे लौकिक और वैदिक कर्ममें इसका अधिकार नहीं है। जिसमें देह और देहके आश्रित वर्ण, जाति आदिमें अभिमान, फलकी इच्छा और मेरा यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, इस प्रकार क्रियाओंमें गुण और दोषका दर्शन विद्यमान है, उसीकी कर्ममें योग्यता देखनेमें आती है और जो उक्त लक्षणोंसे रहित है, उसकी देखनेमें नहीं आती, क्योंकि नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठासे प्रौढ़ हुए विज्ञानके बलसे अविद्या और अविद्याके आध्यासिक कार्योंका निर्मूलन कर ब्रह्मके तादात्म्यको प्राप्त करके ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार ब्रह्मस्वरूपसे ब्रह्ममें ही स्थित होनेवाले विद्वान्‌को फिर शरीरके तादात्म्यकी प्राप्ति और उसमें मैं, मेरा इत्यादि अभिमान नहीं हो सकता। उसका असंभव होनेपर उसमें आरोपित वर्ण, जाति आदिका अभिमान भी सिद्ध नहीं होता। उसके सिद्ध न होनेपर सबमें मिथ्यात्व देखनेवाले पुरुषमें फलकी इच्छा और क्रियाओंमें गुण और दोषका दर्शन नहीं हो सकता, ऐसा होनेसे विद्वान्‌का कर्ममें अधिकार युक्त नहीं होता, क्योंकि सर्वमिथ्यात्वदर्शन और प्रवृत्ति ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतः उनका एक अधिकरण उपपन्न नहीं है, क्योंकि वस्तुमें सत्यत्वनिश्चयबुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति और भ्रमकल्पितत्वनिश्चयबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वज्ञान होता है, इसलिए परस्पर विरुद्ध होनेके कारण उन दोनोंका एक अधिकरण उपपन्न नहीं है।

यदि शङ्का हो कि कर्ता, करण और कार्य सब मिथ्या हैं, ऐसा समझकर भी विद्वान् कर्म करे, क्या हानि है? क्योंकि मिथ्यारूपसे किया हुआ कर्म बन्धनका कारण नहीं होता, तो यह शङ्का भी ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वज्ञानका प्रवृत्तिसे विरोध है। यह जल नहीं है, किन्तु मरुभूमि

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

महानद और नदियोंके निरन्तर प्रवाहोंसे चारों ओरसे भरे जानेपर भी अपनी पूर्व मर्यादाको न छोड़नेवाले समुद्रमें जैसे अनेक तरहके गङ्गा, सिन्धु आदि सरिताओंके जल प्रविष्ट होते हैं, वैसे ही सभी प्रकारके भोग्य पदार्थोंसे आपूर्यमाण होनेपर भी अपनी अखण्डाकारवृत्तिरूपा प्रतिष्ठाको न छोड़नेवाले जिस मुनिमें अनेक तरहके भोग्य पदार्थ प्रविष्ट होते हैं, वही केवल शान्तिको—मोक्षको—प्राप्त होता है, विषयोंकी अभिलाषा करनेवाला पुरुष प्राप्त नहीं होता ॥७०॥

तस्याऽपि प्रवृत्त्यदर्शनात्किमुताऽऽरोपितं दृश्यं सर्वं मिथ्यैवेति तदधिष्ठानं ब्रह्मैव सर्वत्र पश्यतः प्रवृत्तिरनुपपन्नेत्यतो ह्यविद्यावत एव कर्मण्यधिकारो, न तु विद्यावतः; विद्याया अविद्यातत्कार्यविरोधित्वाद्विद्यावति ब्रह्मविदि अविद्या तत्कार्यं च तेजसीव तमः सकार्यं स्थातुं न शक्नोति । यत एवं ततो विधिर्विधानं विधेयं विधाता च सर्वमाविधिकं मिथ्यैवेति विजानतो ब्रह्मविदः सदाऽऽत्मना तूष्णीमवस्थितिं विना न किञ्चित्कर्तव्यमस्तीति सिद्धम् ॥ ६९ ॥

यथा कन्यका स्वयमृतुमती भूत्वा जननीं जनकं भ्रातरं च सर्वं स्वजनं त्यक्त्वा भर्तारमेवैकमाश्रित्य तदेकालम्बना भूत्वा तत्रैव रमते तेनैव तुष्यति हृष्यत्यानन्दति नाऽन्यं शृणोति पश्यति स्मरति स्पृशति स्वयं पतिव्रता भूत्वा तत्रैव तिष्ठति, तथैव यस्य ब्रह्मविदो यतेः प्रज्ञा समाधिना प्रौढीभूय देहं प्राणमिन्द्रियजातं च सर्वं

है, इस प्रकार मरीचिका जलमें मिथ्यात्व जाननेवाले प्यासे पुरुषकी भी जब उसमें प्रवृत्ति देखनेमें नहीं आती, तब आरोपित सम्पूर्ण दृश्यको मिथ्या और उसके अधिष्ठानभूत ब्रह्मको ही सर्वत्र देखनेवाले पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसमें तो कहना ही क्या है ? इसलिए अविद्यावालेका ही कर्ममें अधिकार है, विद्यावालेका नहीं । विद्याका अविद्या और अविद्याकार्यके साथ विरोध होनेके कारण विद्यावान् ब्रह्मज्ञानीमें अविद्या और अविद्याका कार्य, उजालेमें अन्धेरे और अन्धेरेके कार्यके समान, ठहर नहीं सकते । यतः ऐसा है, इसलिए विधि, विधान, विधेय और विधाता, सब अविद्याके कार्य मिथ्या हैं, ऐसा जाननेवाले ब्रह्मवित्का, चुपचाप आत्मस्वरूपसे सदा अवस्थितिके सिवा, कुछ भी अन्य कर्तव्य नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ ६९ ॥

जैसे कन्या स्वयं ऋतुमती होकर माता, पिता, भाई आदि सब स्वजनोंको छोड़कर केवल पतिकी ही आश्रित होकर केवल उसीका आलम्बन कर उसीमें रमण करती है, उसीसे सन्तुष्ट होती है, हर्ष करती है, आनन्द करती है, दूसरेका न सुनती है, न देखती है, न स्मरण करती है और न स्पर्श करती है, स्वयं पतिव्रता होकर पतिमें स्थित रहती है, वैसे ही जिस ब्रह्मवित्

दूरतः परित्यज्य सच्चिदानन्दैकरसं परं ब्रह्मैकमेवाऽऽश्रित्य तदेकालम्बना भूत्वा तत्रैव रमन्ती क्रीडन्ती नन्दन्ती तुष्यन्ती हृष्यन्ती सती पतिव्रतावन्नाऽन्यच्छृणोति पश्यति मनुते विजानाति स्वयं सदा तदात्मना तिष्ठति। स एव जीवन्मुक्तिसुखं विदेहकैवल्यसुखं च विदन्त इति सूचयितुं स्थितप्रज्ञस्य यतेर्भिक्षादावपि वृत्तेर्बाह्यानालम्बनत्वमेव प्रतिपादयति श्रीभगवान् एवंलक्षण एव यतिर्विदेहमुक्तिं प्राप्नोति नाऽन्यविध इति निर्धारयन्—आपूर्यमाणमिति।

गङ्गानर्मदागोदावरीकृष्णाकावेरीसिन्ध्वादीनां महानदनदीनां दशशतसहस्रसंख्याकेभ्यो मुखेभ्योऽतिपरिणामवद्भ्यः समागतैरभ्रंकषैर्महाप्रवाहैरपरिमितैः समन्तादापूर्यमाणमपि स्वयमचलप्रतिष्ठं अचला चलनवर्जिता प्राक्तनस्वीयलक्षणमनतिक्रान्ता वृद्धिक्षयशून्या प्रतिष्ठा जलस्थितिमर्यादा यस्य सोऽचलप्रतिष्ठस्तम्। प्रवाहाप्रवेशकाल इव प्रवेशकालेऽप्येकरूपेण सत्ताविशेषशून्यतया वर्तमानमित्यर्थः। सदैकरूपेणैव तिष्ठन्तं समुद्रमापः गङ्गासिन्ध्वादिमहानदीनां नानामुखेभ्यः समागतानि जलानि नानाविधवर्णरसगन्धगुणफलवत्य आपो यद्वत्प्रविशन्ति स्वकीयशुक्लनीलारुणपीतादिरूपविशेषं मधुराम्लतिक्तकषायादिरसविशेषं परिमलपूत्यादिगन्धविशेषं लघुत्वगुरुत्वादिगुणविशेषं एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टनवदशशतकृच्छ्रसमानपुण्यविशेषं

यतिकी प्रज्ञा समाधिसे प्रौढ़ होकर देह, प्राण और इन्द्रियसमूह सबका दूरसे ही त्यागकर
सच्चिदानन्दैकरस एक परब्रह्मकी ही आश्रित होकर, उस एकका ही आलम्बन कर उसीमें
रहती हुई, क्रीड़ा करती हुई, आनन्द करती हुई, संतुष्ट होती हुई, हर्ष करती हुई पतिव्रताके
समान दूसरेको न सुनती है, न देखती है, न मनन करती है, न जानती है, स्वयं सदा ब्रह्म-
स्वरूपसे ही स्थित रहती है, वही जीवन्मुक्तिके सुखको और विदेहमुक्तिके सुखको प्राप्त होता है,
ऐसा सूचन करनेके लिए उक्त लक्षणवाला यति ही विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, अन्य प्रकारका
नहीं, ऐसा निर्धारण करते हुए श्रीभगवान् भिक्षा आदिमें भी स्थितप्रज्ञ यतिकी वृत्ति बाहरका
अवलम्बन नहीं करती, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'आपूर्यमाणम्' इत्यादिसे।

गङ्गा, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, सिन्धु आदि महानद और नदियोंके सैकड़ों अति-
विस्तृत मुखोंसे आये हुए अपरिमित आकाश छूनेवाले (अतिउन्नत) प्रवाहोंसे चारों ओरसे भरे जानेपर
भी जो समुद्र स्वयं अचलप्रतिष्ठ है यानी चलनवर्जित—पूर्वके अपने लक्षणको न छोड़नेवाली अर्थात्
बढ़ने घटनेसे रहित—प्रतिष्ठा—जलस्थितिकी मर्यादा—जिसकी है अर्थात् प्रवाहके प्रवेश न
करनेके समयमें जैसा है, वैसे ही प्रवेशकालमें भी एकरूपसे—सत्ताविशेषसे रहितरूपसे—वर्तमान,
यह भाव है। सदा एकरूपसे ही रहनेवाले समुद्रमें गङ्गा, सिन्धु आदि महानदियोंके अनेक मुखोंसे
आये हुए अनेक प्रकारके वर्ण, रस, गन्ध आदि गुणवाले जल जैसे प्रवेश करते हैं यानी अपने
श्वेत, नील, लाल, पीत आदि रूपविशेषको; मधुर, खट्टे, तीखे, कसैले आदि रसोंको;
सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि गन्धविशेषको; हलका, भारी आदि गुणोंको; एक, दो, तीन, चार, पाँच,

तत्तन्नामविशेषं च परित्यज्य समुद्रभावमेव यथा गच्छन्ति । समुद्रं प्राप्य तत्संबन्धमहिम्ना नामरूपगुणविशेषैर्यथा समुद्रान्न भिद्यन्त इत्यर्थः, तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति । काम्यन्ते नामभेदेन रूपभेदेन रसभेदेन गन्धभेदेन पाकभेदेन च विविच्य गृह्यन्त इति कामा भोग्यपदार्थाः सूपापूपरसान्नादयस्तदन्ये च भोग्यविशेषा नानाविधैर्नामरूपरसगन्धपाकसंस्कारादिविशेषविचित्रैरनेकैर्भोग्यविशेषैः सर्वतोऽनिच्छाप्रारब्धादेव संप्राप्तैरापूर्यमाणं मां गृहाण मां गृहाणेति दातृजनद्वारा समन्तात्पतद्भिर्व्याकुलीक्रियमाणमप्यचलप्रतिष्ठमचला निर्विकल्पा विपरीतभावशून्या व्युत्थानदशायामप्याहारादौ सदाकारतामापाद्य सदात्मनैव निश्चलीभूय स्थिताखण्डाकारवृत्तैः प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य सोऽचलप्रतिष्ठः । तदानीमपि बाह्यानविकल्प्य समाधिनिष्ठया विपरिणामरहितान्तःकरण इत्यर्थः । तमचलप्रतिष्ठमेव यं ब्रह्मविदं यतिं सर्वे कामाः प्रविशन्ति, यं ब्रह्मनिष्ठं प्राप्य सर्वे विषयाश्चिद्भावापन्ना अध्यात्मदृष्ट्या प्रविलापिताः सन्तः स्वकीयं नामविशेषं रूपविशेषं गन्धविशेषं पाकविशेषं संस्कारविशेषं रुचिविशेषं च परित्यज्य समुद्रप्रविष्टमहानदीजलानि समुद्रभावमिव स्वयं ब्रह्मभावं गच्छन्तीत्यर्थः । य एवंलक्षणो ब्रह्मविद्यतिः स एव शान्तिमविद्याप्रपञ्चोपशमलक्षणां विदेहमुक्तिमाप्नोति,

---

छः, सात, आठ, नव, दश, सौ कृच्छ्रोंके समान पुण्यविशेषको और तत्-तत् नामविशेषोंको छोड़कर जैसे समुद्रभावको ही प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् समुद्रको प्राप्त होकर उसके संबन्धकी महिमासे नामरूप और गुणविशेषोंसे जैसे समुद्रसे भिन्न नहीं रहते, वैसे ही काम जिसमें प्रवेश करते हैं। जो चाहे जाते हैं—नामके भेदसे, रूपके भेदसे, रसके भेदसे, गन्धके भेदसे, पाकके भेदसे भिन्न भिन्न रूपसे जिनका ग्रहण किया जाता है—वे काम कहे जाते हैं यानी भोग्य पदार्थ, दाल, पुए, रस, अन्न आदि और इनसे अन्य भी भोग्यविशेष। नाम, रूप, रस, गन्ध, पाक, संस्कार आदि विशेषोंसे विचित्र अनेक प्रकारके चारों ओरसे अनिच्छापूर्वक प्रारब्धसे ही प्राप्त हुए भोग्यविशेषोंसे आपूर्यमाण यानी 'मुझे ग्रहण करो,' इस प्रकार देनेवालों द्वारा सब तरफसे आनेवाले भोग्य विशेषोंसे व्याकुल करनेपर भी अचलप्रतिष्ठ यानी निर्विल्प—विपरीत भावसे शून्य—अर्थात् व्युत्थानदशामें भी आहार आदिमें सत्की आकारताको प्राप्त करके सदात्मरूपसे ही निश्चल होकर स्थित, अखण्डाकार वृत्तियोंसे जिसकी प्रतिष्ठा यानी स्थिति है, वह अचलप्रतिष्ठ है यानी तब भी बाह्य विकल्प न करके समाधिनिष्ठासे विपरिणामरहित अन्तःकरणवाला, यह अर्थ है। उस अचलप्रतिष्ठ जिस ब्रह्मवित् यतिमें सब काम प्रवेश करते हैं, यानी जिस ब्रह्मनिष्ठको प्राप्त होकर सब विषय चिद्भावको प्राप्त होकर अध्यात्मदृष्टिसे लीन होकर अपने नामविशेषको, रूपविशेषको, गन्धविशेषको, पाकविशेषको, संस्कारविशेषको और रुचिविशेषको छोड़कर जैसे समुद्रमें प्रविष्ट हुए महा नदियोंके जल समुद्रभावको प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाते हैं, यह अर्थ है। जो इस प्रकार लक्षणवाला ब्रह्मवित् यति है, वही शान्तिको यानी अविद्याप्रपञ्चो-

न तु कामकामी। कामान् विषयान् यः कामयते स कामकामी स्वयं कैवल्यकारणभूतां ब्रह्मनिष्ठां स्वधर्मं परित्यज्याऽनात्मन्येवाऽऽत्मभावमापद्य भोक्ता सन् शुक्तौ रजतमिव मरौ जलमिव ब्रह्मण्यद्वितीये ह्यविद्यमानमेव द्वैतं कल्पयित्वा अहं भोक्तेदं भोग्यमित्यनृताभिसन्धितया बाह्यवासनाभिरसत्यहन्ताममताभिनिवेशेन बद्धः सन् इदं रम्यमिदमिष्टमित्यादिभेदबुद्ध्या नामरूपादिविशेषविभागेन पदार्थान् गृह्णाति यतस्ततः कामकामी भेददर्शी शान्तिं न प्राप्नोति देहादितादात्म्यापत्त्या योऽसदभिनिवेशेन ब्रह्मण्यद्वितीये भेदं पश्यति स एव कामकामी द्वैतदर्शी मुक्तिं न प्राप्नोतीत्यर्थः। तथाच श्रुतिः—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' इति। नहि देहतादात्म्यं विना भेददर्शनं कामना च सिध्यति। नाऽपि देहतादात्म्यं चाऽविद्यां विना संभवति, अविद्यावतो मुक्त्यभावो युक्त एव यतस्ततः क्वचित्कदाचिदपि देहतादात्म्यापत्त्या भेददृष्टिर्न कर्तव्या विदेहकैवल्यार्थिना यतिनेति सिद्धम्। पूर्वश्लोकेनाऽनेन च द्वाभ्यामाहारादावपि स्थितप्रज्ञो ब्रह्मविद्यतिर्ब्रह्मात्मना ब्रह्मण्येव तिष्ठति न क्वचिदप्यनात्मनीति किमासीतेति प्रश्नस्योत्तरं दत्तम् ॥ ७० ॥

यस्मात् ध्यायतो विषयानित्यत्र विषयाणां श्रवणेन दर्शनेन च विनैव केवलध्यानमात्रेण कामाद्यनर्थाविर्भूत्या विदुषोऽपि प्रणाशः प्रतिपादितः किमुत ब्रह्मनिष्ठा-

---

परमरूप विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, कामकामी नहीं। जो कामोंको यानी विषयोंको चाहता है, वह कामकामी कहलाता है। वह विषयी पुरुष स्वयं कैवल्यके कारणभूत ब्रह्मनिष्ठारूप स्वधर्मका त्यागकर अनात्मामें आत्मभाव प्राप्त करके भोक्ता होकर शुक्तिमें रजतके समान, मरुमें जलके समान अद्वितीय ब्रह्ममें अविद्यमान ही द्वैतकी कल्पना करके 'मैं भोक्ता हूँ, यह भोग्य है' ऐसी मिथ्या अभिसन्धि द्वारा बाह्यवासनाओंसे असत्में अहंता और ममताके अभिनिवेशसे बद्ध होकर यह रम्य है, यह इष्ट है, इत्यादि भेदबुद्धिसे नाम, रूप आदि विशेष विभागों द्वारा पदार्थोंका ग्रहण करता है, इसलिए कामकामी—भेददर्शी—शान्तिको प्राप्त नहीं होता यानी देहादिके तादात्म्यको प्राप्त होकर जो असत् अभिनिवेशसे अद्वितीय ब्रह्ममें भेद देखता है, वह कामकामी (द्वैतदर्शी) मुक्ति ही नहीं पाता, यह अर्थ है। जैसी कि श्रुति है—'जभी यह इसमें थोड़ासा भी भेद मानता है, तब इसको भय होता है, वह भय अभेद न माननेवाले विद्वान्को होता है'। देहतादाम्यके बिना भेददर्शन और कामना सिद्ध नहीं होती, अविद्याके विना देहतादाम्यका भी संभव नहीं है। चूँकि अविद्यावालेमें मुक्तिका अभाव युक्त ही है, इसलिए कभी और कहीं भी देहतादात्म्यको प्राप्त होकर भेददृष्टि विदेहकैवल्य चाहनेवाले यतिको नहीं करनी चाहिए, यह सिद्ध हुआ। पूर्व और इस श्लोकसे आहार आदिमें भी स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवित् यति ब्रह्मस्वरूपसे ब्रह्ममें ही स्थित होता है, अनात्मामें कभी भी स्थित नहीं होता, इस प्रकार 'कैसे बैठे' इस प्रश्नका उत्तर दिया ॥ ७० ॥

'ध्यायतो विषयान्' (विषयोंका ध्यान करता हुआ) इत्यादि श्लोकमें सुनने और देखनेके सिवा केवल विषयोंके ध्यानमात्रसे ही काम आदि अनर्थोंकी उत्पत्ति होकर विद्वान्का नाश होता है, ऐसा जब

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

केवल ब्रह्ममें ही अभिनिवेश रखनेके कारण जिसका देहसे अहमात्मक अहङ्कार निकल गया है, देहादि और उसके धर्मोंसे जिसकी ममता (संबन्ध) निकल गयी है, जो सब विषयोंसे वितृष्ण है और सम्पूर्ण बाह्य विषयोंको छोड़कर सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिसे विचरता है, वही परम शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

मुत्सृज्य बाह्यवृत्त्या विषयानिन्द्रियैर्गृह्णतो भुञ्जतो यथेच्छं विहरतो वा कामकामिनः प्रणाश इति । तस्माद्विदेहकैवल्यार्थिना यतिना ब्रह्मविदा सर्वथा विषयग्राहमुत्सृज्य सर्वेन्द्रियनिग्रहपूर्वकं सदाऽऽत्मनिष्ठया स्थातव्यम्, एवं यस्तिष्ठति स एव विदेहमुक्तिं विन्दतीति प्रतिपादयति—विहायेति ।

पुमर्थमतिदुर्लभं मोक्षं महता प्रयत्नेन संपादयति ब्रह्मवित् खलु पुमान् पुरुषशब्दवाच्यो यो ब्रह्मविद्यतिः स्वयं निरहङ्कारः ब्रह्मैवाऽहमिति ब्रह्मण्येव निरूढात्मत्वाभिनिवेशेन देहान्निर्गतोऽहंकारोऽहमात्मिका बुद्धिर्यस्य स निरहङ्कारः नित्यनिरन्तरब्रह्मनिष्ठया निर्मूलितानात्मतादात्म्यग्रन्थिरित्यर्थः । तत एव निर्ममः । देहतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थादिभ्यो निर्गतो ममताबन्धो यस्य स निर्ममः । ब्रह्मतादात्म्यापत्त्या वपुष्यहंभावाभावे तद्धर्मादौ ममताभावो विदुषो युक्त एवेत्यर्थः । तत एव निःस्पृहः विषयेभ्यो निर्गता स्पृहा सुखाशालक्षणा यस्य स निःस्पृहः ब्रह्मण्येवाऽऽत्मतापत्त्या देहादेरनात्मत्वेन

प्रतिपादन किया, तब फिर ब्रह्मनिष्ठाको छोड़कर बाह्य वृत्तिसे विषयोंका उक्त इन्द्रियोंसे ग्रहण करनेवाले, भोगनेवाले अथवा यथेच्छ विहार करनेवाले कामकामीके नाशमें तो कहना ही क्या है ? इसलिए विदेहकैवल्य चाहनेवाले ब्रह्मवित् यतिको सर्वथा विषयोंका ग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु सब इन्द्रियोंके निग्रहपूर्वक सदा आत्मनिष्ठासे स्थित होना चाहिए, इस प्रकार जो स्थित होता है, वही विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'विहाय' इत्यादिसे ।

पुमर्थ यानी अतिदुर्लभ मोक्षको, महान् प्रयत्नसे प्राप्त करनेवाला ब्रह्मवित् पुमान् है अर्थात् पुरुषशब्दसे वाच्य है, एवंभूत ब्रह्मवित् यति स्वयं निरहङ्कार यानी ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार ब्रह्ममें ही निरूढ़ आत्मत्वाभिनिवेशके द्वारा देहसे अहमात्मक बुद्धिरूप अहङ्कार जिसका निकल गया है, वह निरहङ्कार यानी नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठासे जिसने अनात्मतादात्म्यरूप ग्रन्थिका उच्छेद कर दिया है, यह अर्थ है । इसीलिए निर्मम । देह, देहके धर्म, देहके कर्म, देहकी अवस्था आदिसे जिसकी ममतारूप बन्ध कट गया है, वह निर्मम । ब्रह्मतादात्म्यकी प्राप्तिसे शरीरमें अहंभावका अभाव होनेपर उसके धर्मादिमें विद्वान्को ममताका अभाव युक्त ही है, यह अर्थ है । इसीलिए निस्पृह यानी विषयोंमें सुखकी आशारूप स्पृहा जिसकी निकल गयी है, ऐसा निस्पृह पुरुष ब्रह्ममें आत्मभाव

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

हे मोक्ष चाहनेवाले अर्जुन ! यही ब्राह्मी (ब्रह्मप्रापक) स्थिति है, जिसको पाकर मुमुक्षु मोहको (देहको) प्राप्त नहीं होता । अधिक क्या कहें, अन्त समयमें क्षणभर भी इस अवस्थामें रहकर पुरुष मुक्तिको प्राप्त कर लेता है ॥ ७२ ॥

निरस्तत्वात्तमुद्दिश्य सुखाशासम्भवात् स्वस्य निरन्तरब्रह्मानन्दामृतरसेनैव तृप्तत्वाच्च विदुषो विषयसुखापेक्षाभावो युक्तः । तत एव सर्वान् कामान् बाह्यशब्दवाच्यान् विषयान् विहाय शुक्तिरजततुल्यैस्तैः प्रयोजनाभावादिन्द्रियैस्तद्ग्रहणमकृत्वा सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति स्वं सर्वं च ब्रह्मैव पश्यन् चरति 'कामान्नीकामरूप्यनुसञ्चरन्' इत्यादिश्रुत्युक्तप्रकारेण भूमौ सर्वत्राऽसङ्गोदासीनो भूत्वा यः पर्यटति परमहंसः स एव शान्तिमात्यन्तिकसंसारोपरमलक्षणां विदेहमुक्तिमधिगच्छति, नैतद्विपरीतलक्षण इत्यर्थः । ब्रह्मात्मना सर्वं वीक्षमाणो ब्रह्मानन्दमनुभुञ्जानो ब्रह्मवित् सर्वत्र चरति, नैकतः तिष्ठतीति 'व्रजेत किम्'इति प्रश्नस्योत्तरं दत्तम् ॥ ७१ ॥

मुमुक्षोर्यतेः श्रवणजन्यं ज्ञानं प्रपञ्चवासनाभिः कामक्रोधादिभिरहंममाद्यभिमानविशेषैश्च सप्रतिबन्धकं विदेहमुक्त्यै नाऽलमिति निश्चित्य परमकृपालुः श्रीभगवान्

होनेसे देहादिका, अनात्मरूप होनेके कारण, निरास होता है, अतः उसके उद्देशसे सुखकी आशा असम्भव होनेके कारण और स्वतः निरन्तर ब्रह्मानन्दरूप अमृतरससे ही तृप्त होनेके कारण विद्वान्‌को विषयसुखकी अपेक्षा नहीं हो सकती । इसीलिए सब कामोंको यानी बाह्यशब्दसे वाच्य विषयोंको छोड़कर—शुक्तिमें कल्पित रजतके समान कुछ भी प्रयोजन न होनेके कारण इन्द्रियोंसे उनका ग्रहण न करके—'ये सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपनेमें और सबमें ब्रह्म ही देखता हुआ जो विचरता है अर्थात् 'कामोंके पीछे निष्काम होकर चलता हुआ' इत्याद्यर्थक श्रुतियोंमें कहे गये प्रकारसे पृथिवीमें चारों ओर असङ्ग और उदासीन होकर जो परमहंस पर्यटन करता है, वही शान्तिको यानी आत्यन्तिक संसारोपरमरूप विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है, इससे विपरीत लक्षणवाला प्राप्त नहीं होता, यह भाव है । ब्रह्मरूपसे सबको देखनेवाला और ब्रह्मानन्दको भोगनेवाला ब्रह्मवित् सर्वत्र विचरता है, एक स्थानमें नहीं ठहरता, इस कथनसे स्थितप्रज्ञ 'कैसे चलता है' इस पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर दिया गया ॥ ७१ ॥

मुमुक्षु यतिका श्रवणजन्य ज्ञान, प्रपञ्चकी वासनाओंसे, काम, क्रोध आदिसे और अहं, मम आदि अभिमानविशेषोंसे प्रतिबद्ध होकर विदेहमुक्तिके लिए पर्याप्त नहीं होता, ऐसा निश्चय करके

समाधावचला बुद्धिरिति ब्रह्मनिष्ठां प्रस्तुत्य निरन्तरं ब्रह्मनिष्ठया सर्वकामप्रहाणं कृतवतः शरीरयात्रादावपि ब्रह्मात्मना ब्रह्मणि तिष्ठतोऽहंममादिबन्धान्मुक्तवत एव विदुषो विदेहमुक्तिं प्रतिपाद्य इदानीं मुमुक्षोरेषैव संपादनीया ह्यनयैव विदेहमुक्तिर्नाऽन्यथेति सूचयन्नुपक्रान्तां ब्रह्मनिष्ठामुपसंहरति—एषेति।

स्वस्वरूपं प्रकाश्य मुमुक्षुं संसारमृत्योः पातीति पः परमात्मा तमेवाऽर्थयते वाञ्छतीति पार्थस्तस्य संबुद्धिः हे पार्थ मुमुक्षो, त्वमिदं मयोच्यमानं शृणु। श्रुत्वा कुरु। ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तेर्नियतकारणत्वाद् ब्राह्मी ब्रह्मप्रापिका स्थितिर्निष्ठा। एषा मया प्रतिपादिता मुमुक्षूणाम्। विदेहकैवल्यार्थी ब्रह्मविन्मुमुक्षुरेनां प्रस्तुतां ब्रह्मनिष्ठां प्राप्याऽनुष्ठाय न मुह्यति विमोहाय न कल्पते। सर्वेषां प्राणिनामहमिति विशिष्टो मोहो यत्र स विमोहो देहस्तं न प्राप्नोति। एतस्यां निष्ठायां स्थित्वा ब्रह्मवित् पुनर्देही न भवतीत्यर्थः। किञ्च, पूर्वस्मिन्नेव वयसि प्रसिद्धसाधनो जन्मान्तरीयसंन्यासश्रवणादि-पुण्यकर्मपरिपाकवशाद्विद्वानिह प्रारब्धविशेषबलेन किञ्चित्कालं संसृत्याऽन्तकाले चरमा-वस्थायामप्यस्यां निष्ठायां स्थित्वा निर्वाणं निष्क्रियं नित्यानन्दैकरसं ब्रह्म ऋच्छति मुक्तिं गच्छतीत्यर्थः,

'विज्ञाय चरमावस्थां देवताभ्यो नृपोत्तमः।
खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्मुहूर्ते मुक्तिमेयिवान्॥' इति प्रसिद्धेः।

परम कृपालु श्रीभगवान् 'समाधावचला बुद्धिः' (समाधिमें अचल बुद्धि) इससे ब्रह्मनिष्ठाका प्रस्ताव करके निरन्तर ब्रह्मनिष्ठासे सब कामनाओंका त्याग करनेवाले, शरीरयात्राआदिमें भी ब्रह्मस्वरूपसे ब्रह्ममें स्थित और अहं, मम आदि बन्धनसे मुक्त हुए विद्वान्‌की ही विदेहमुक्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन कर अब मुमुक्षुको इसीका संपादन करना चाहिए, क्योंकि इसीसे विदेहमुक्ति होती है, अन्य प्रकारसे नहीं होती, ऐसा सूचन करते हुए प्रस्तुत ब्रह्मनिष्ठाका उपसंहार करते हैं—'एषा' इत्यादिसे।

अपने स्वरूपको प्रकाशित करके जो मुमुक्षुको संसाररूप मृत्युसे बचाता है, वह 'पः' याने पर-मात्मा कहलाता है, उसीको जो चाहता है, वह पार्थ कहलाता है, हे पार्थ उसका संबोधन है। हे मुमुक्षु पार्थ, तुम मेरे इस कथनको सुनो याने सुनकर आचरणमें लाओ। ब्रह्मप्राप्तिकी नियत कारण होनेसे ब्रह्मको प्राप्त करानेवाली ब्राह्मी स्थितिका (निष्ठाका) मुमुक्षुओंके लिए ही मैंने प्रतिपादन किया है, विदेहकैवल्य चाहनेवाला ब्रह्मवित् मुमुक्षु इस प्रस्तुत ब्रह्मनिष्ठाको प्राप्त करके—इसका अनुष्ठान करके—मोहित नहीं होता यानी विमोहके योग्य नहीं होता। सब प्राणियोंको 'मैं' ऐसा विशिष्ट मोह जिसमें हो, वह विमोह है यानी देह, उसको प्राप्त नहीं होता। इस निष्ठामें स्थित होकर ब्रह्मवित् फिर देहवाला नहीं होता, यह अर्थ है। किञ्च, पूर्व आयुमें ही साधनसम्पन्न होकर पूर्वजन्मके संन्यास, श्रवण आदि पुण्यकर्मोंके परिपाकके कारण विद्वान् यहां प्रारब्धविशेषके बलसे कुछ काल संसारमें आकर अन्तकालमें यानी अन्तिम अवस्थामें इस निष्ठामें स्थित होकर भी निर्वाणको यानी निष्क्रिय, नित्य और आनन्दैकरसरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होता है, यह भाव है,

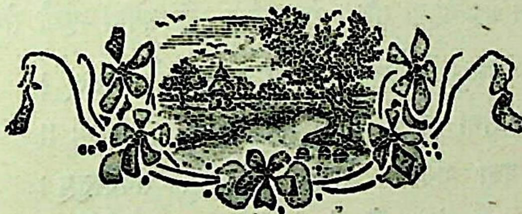
यत एवं ततो विदेहकैवल्यार्थिभिर्यतिभिर्बाह्ये प्रवृत्तिं परित्यज्याऽस्यामेव निष्ठायां सर्वदा स्थातव्यमिति सिद्धम् ॥७२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीकृतौ गीतावाक्यतात्पर्यबोधिन्यां द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

क्योंकि 'राजाओंमें उत्तम खट्वाङ्ग नामका राजर्षि अन्तिम अवस्थाको देवताओंसे जानकर एक मुहूर्तमें मुक्तिको प्राप्त हुआ', ऐसा प्रसिद्ध है।

यतः ऐसा है, इसलिए कैवल्यार्थी यतियोंको वाह्य विषयोंमें प्रवृत्ति छोड़कर इसी ब्राह्मीनिष्ठामें सर्वदा स्थित रहना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ॥ ७२ ॥

दूसरा अध्याय समाप्त



अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

हे अज्ञानका विनाश करनेवाले जनार्दन, यदि कर्मयोगकी अपेक्षा ज्ञानयोगको आप श्रेष्ठ मानते हैं, तो हे केशव, हिंसात्मक कर्ममें मुझे क्यों प्रवृत्त करा रहे हैं ॥ १ ॥

'न त्वेवाऽहं जातु नाऽऽसम्' इत्यात्मानात्मविवेचनमुपक्रम्य 'न जायते म्रियते वा' इत्यादिना सम्यगात्मतत्त्वं निर्धार्य 'वेदाऽविनाशिनम्' इत्यादिना ब्रह्मविदः सर्वकर्म-संन्यासमुक्त्वा तस्यैव 'प्रजहाति' इत्यारभ्य 'स शान्तिमाप्नोति' इत्यन्तेन ग्रन्थेन ब्रह्मनिष्ठां तत्फलं च मोक्षं प्रतिपाद्य 'न कामकामी'इति कामकामिनो मोक्षाभावः प्रतिपादितस्तेन सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकं ब्रह्मनिष्ठया मोक्षः संपादनीय इति सर्वेषां प्रवृत्तौ संप्रसक्तायाम्—

'विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान् सरक्तस्तु गृहे वसेत्।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन् हि द्विजाधमः॥
यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु।
तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद्विपर्यये॥

'न त्वेवाऽहं जातु नाऽऽसम्' (मैं कभी नहीं था, ऐसा नहीं है) इत्यादिसे आत्मा और अनात्माका विवेचन आरंभ करके, 'न जायते म्रियते' (न जन्मता है, न मरता है) इत्यादिसे ठीक-ठीकरूपसे आत्मतत्त्वका निर्धारण करके, 'जो अविनाशी नित्यको जानता है' इत्यादिसे ब्रह्मज्ञानीके लिए सब कर्मोंका संन्यास कहकर 'प्रजहाति' इत्यादिसे आरंभ करके, 'स शान्ति-माप्नोति' (वह शान्तिको प्राप्त होता है) इत्यन्त ग्रन्थसे उसी ज्ञानीकी ब्रह्मनिष्ठा और ब्रह्मनिष्ठाके फल मोक्षका प्रतिपादन करके अनन्तर 'न कामकामी' इससे कामनावालेको मोक्ष नहीं होता, ऐसा प्रतिपादन किया। इससे सब कर्मोंके संन्यासपूर्वक ब्रह्मनिष्ठा द्वारा मोक्षका संपादन करना चाहिए, यों सबकी संन्यासमें प्रवृत्तिका प्रसंग आनेपर—

'बुद्धिमान् विरक्त घरसे निकल जाय, सरक्त तो घरमें वास करे' क्योंकि यदि रागवाला अधम ब्राह्मण संन्यास ग्रहण करें, तो वह नरकमें गिरता है। जब सब वस्तुओंकी तृष्णा मनसे निकल जाय, तब संन्यासकी इच्छा करे, इससे विपरीत आचरण करनेपर पतित हो जाता है। कर्म प्रवृत्तिलक्षण है

प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥
यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत् ॥
अहमेव परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ।
इति बोधो दृढो यस्य तदा भवति भैक्ष्यभुक् ॥
प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति ।
तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥
अनधीत्याऽखिलान् वेदाननिष्ट्वाऽखिलान् सुरान् ।
अनुत्पाद्य सुतान् विप्रो न संन्यसितुमर्हति ॥
अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रचरन्निन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति ॥'

'ज्ञात्वा नैष्कर्म्यमाचरेत् । सशिखं वपनं कृत्वा वहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः ।' 'ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति ।

'परं ब्रह्म परिज्ञाय प्रव्रजेद् ब्राह्मणोत्तमः ।
अन्यथा कर्म कुर्वीत न प्रमाद्येत कर्हिचित् ॥
स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
विपरीतस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥'

और ज्ञान संन्यासलक्षण है यानी कर्मका लक्षण प्रवृत्ति है और ज्ञानका लक्षण संन्यास है, इसलिए इस लोकमें बुद्धिमान् ज्ञानपूर्वक संन्यास करे । जब सनातन परब्रह्मरूप तत्त्वका परिज्ञान हो जाय, तब एक दण्डका ग्रहण करके उपवीतसहित शिखाका त्याग करे । जिसको वासुदेवनामक अव्यय परब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसा दृढ़ बोध हो चुका, तब वह भिक्षाभोजी होता है । जैसे प्राणके निकल जानेपर शरीर सुख और दुःख नहीं जानता, वैसे ही प्राणके रहनेपर भी यदि न जाने, तो वह कैवल्य आश्रममें बसे । ब्राह्मण संपूर्ण वेदोंको पढ़े बिना, यज्ञों द्वारा सब देवताओंका पूजन किये बिना और पुत्रोंको उत्पन्न किये बिना संन्यासका अधिकारी नहीं होता । विहित कर्म न करता हुआ, निन्दित कर्म करता हुआ एवं इन्द्रियोंसे विषयोंको भोगता हुआ मनुष्य पतित होता है ।' 'तत्त्वको जानकर ज्ञानी नैष्कर्म्यका आचरण करे, शिखासहित मुण्डन कराके बाहरका सूत्र त्याग दे ।' 'वे निश्चयं पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणका त्याग करके भिक्षाचरण करते थे' । 'उत्तम ब्राह्मण परब्रह्मको भली भाँति जानकर संन्यास ग्रहण करे, ऐसा न हो तो कर्म करे, कभी भी प्रमाद न करे । अपने अपने अधिकारमें जो निष्ठा है, वह गुण कहा गया है, इससे विपरीत तो दोष है, यह दोनोंका निश्चय है ।'

इत्यादिश्रुतिस्मृतिवचनेभ्यो ह्यधिकारिणामेव संन्यासो नाऽनधिकारिणामन्यथाकृत्वा पतिष्यन्तीति ज्ञानकर्मयोगयोरधिकार्यादिभेदेन भेद एवेति तयोर्विभागं दर्शयितुं चाऽनधिकारिणां कर्मैव चित्तशुद्धिद्वारा मोक्षसाधनं तदेवाऽवश्यं कर्तव्यमिति बोधयितुं च तृतीयाध्याय आरभ्यते। तत्राऽऽदौ 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इति तव कर्मण्येवाऽधिकारो नाऽन्यत्रेत्यवधारणपूर्वकं कर्म विधाय—'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय। बुद्धौ शरणमन्विच्छ' इति ज्ञानयोगात् कर्मयोगो निकृष्टस्ततो ज्ञानयोगमेवाऽऽश्रयेति ज्ञानयोगविधानाच्च तेन व्याकुलीभूतान्तरात्मा भूत्वाऽर्जुनः स्वयं 'दूरेण ह्यवरं कर्म' इति वचनार्थमेव मनसि निधाय कर्मयोगात् ज्ञानयोगस्य साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन विशिष्टतरत्वं मन्यमान इदमुवाच—ज्यायसीति।

जनं जननं तत्कारणमज्ञानं च स्वसाक्षात्कारेणाऽर्दयति हिनस्तीति जनार्दनस्तस्य संबुद्धिर्हे जनार्दन, कर्मणः कर्मयोगाद् बुद्धिर्ज्ञानयोग एव ज्यायसी श्रेष्ठेति ते मताऽभिमता चेत्किं किमर्थं 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते' इति मां कर्मणि ज्ञानान्निकृष्टे नियोजयसि। तत्राऽपि घोरे हिंसात्मके 'तस्माद्युध्यस्व भारत' इति चोदयसि। भवानीश्वरस्तव वचनमलङ्घ्यम्। मां भक्तमनुरक्तं च योग्यमर्थं त्याजयित्वाऽयोग्यार्थे प्रेषयसीत्यर्थः॥ १॥

इत्याद्यर्थक श्रुति-स्मृति-वचनोंसे अधिकारियोंके लिए ही संन्यासका विधान है, अनधिकारियोंके लिए नहीं है, जो ऐसा न करेंगे, तो पतित होंगे, इस प्रकार ज्ञानयोग और कर्मयोगका अधिकारी आदिके भेदसे भेद ही है, इसलिए इन दोनोंका विभाग दिखलानेके लिए और अनधिकारियोंको चित्तकी शुद्धि द्वारा कर्म ही मोक्षका साधन है, वही अवश्य करना चाहिए, यह बतलानेके लिए तीसरे अध्यायका आरंभ किया जाता है। इसमें पहले 'कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है, फलमें कभी भी नहीं है', इत्यादिसे तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है, अन्यमें नहीं है, इस प्रकार अवधारणपूर्वक कर्मका विधान करके हे धनंजय, ज्ञानयोगसे कर्मयोग बहुत ही निकृष्ट है, अतः ज्ञानकी शरण लो' इससे ज्ञानयोगसे कर्मयोग निकृष्ट है, इसलिए ज्ञानयोगका आश्रय लो, इस प्रकार ज्ञानयोगका विधान किया है, इससे अर्जुन व्याकुलमन होकर स्वयं 'कर्म बहुत ही निकृष्ट है' इस वचनके अर्थको ही मनमें धारण करके और कर्मयोगकी अपेक्षा ज्ञानयोगको साक्षात् मोक्षका साधन और श्रेष्ठतर मानकर कहता है—'ज्यायसी' इत्यादि।

जनको—जन्मको और उसके कारण अज्ञानको—अपने साक्षात्कारसे अर्दन करता है यानी नष्ट कर देता है, वह जनार्दन कहलाता है, जनार्दन उसका संबोधन है—हे जनार्दन, कर्मसे (कर्मयोगसे) बुद्धि—ज्ञानयोग—ही श्रेष्ठ है, ऐसा यदि आपका मत है—आपको अभिमत है—तो 'कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है' इत्यादिसे ज्ञानकी अपेक्षा निकृष्ट कर्ममें आप मुझको क्यों नियुक्त करते हैं? उसमें भी घोर हिंसात्मक कर्ममें 'इसलिए हे भारत, युद्ध करो', ऐसी क्यों प्रेरणा करते हैं? आप

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

ज्ञान-कर्म-समुच्चयके प्रतिपादक वचनों द्वारा आप मानो मेरी बुद्धिको भ्रममें डाल रहे हैं अर्थात् मुझे कर्ममें प्रवृत्त करा रहें हैं, अतः ज्ञान और कर्मयोगमें से किसी एकको, जो मेरे योग्य हो, विचार कर मुझसे कहिए, जिससे मैं श्रेय पा सकूँ ॥२॥

किञ्च, व्यामिश्रेणेति । 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते' इति 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' इति चैवंलक्षणेन व्यामिश्रेणेव क्षीरनीरयोरिव द्वयोर्मेलनं व्यामिश्रं तेनेव ज्ञानकर्मणोः समुच्चयवतैव वाक्येन मम बुद्धिं मोहयसीव मां कर्मणि नियोजयसि । यद्यपि युद्धं कर्तव्यं वा त्यक्तव्यं वेति संशयालोस्त्वां शरणं गतस्य मम भ्रमापनयाय भवान् दयया प्रवृत्तो न तु मोहनाय, तथापि विवेकविकलस्य जडात्मनो मम भवद्वचनं व्यामिश्रमिव भाति, तेन व्यामिश्रकवाक्येन मम बुद्धिं मोहयसीव प्रतीयते । तदपि मम बुद्धिदोष एवेति भावः । तर्हीदानीं किं कर्तव्यमित्यत आह—तदेकमिति । ज्ञानकर्मणोः क्रियाकारकफलभेदेन विपरीतयोरेककर्तृत्वासंभावात्तयोरेकं ज्ञानं वा कर्म वा मदधिकारानुरूपं तत्र मम योग्यत्वमयोग्यत्वं च विचार्य, इदमेवाऽस्याऽर्हमिति निश्चित्य वद । येन ज्ञानेन वा कर्मणा वा तयोरेकतरेण वाऽहं साक्षात्परम्परया वा श्रेयः परमपुरुषार्थं प्राप्नुयाम् ॥ २ ॥

ईश्वर हैं, आपका वचन अलंघ्य है—टालने योग्य नहीं है। मुझ भक्त और अनुरक्तको जो योग्य अर्थ है, उसका त्याग कराके अयोग्य अर्थमें क्यों प्रेरित करते हैं, यह अर्थ है ॥ १ ॥

किञ्च 'व्यामिश्रेण' इत्यादि । 'कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है' और 'बुद्धिकी शरण लो' इस प्रकारके व्यामिश्र वाक्यसे (दूध और पानीके समान दोनोंका मेलन व्यामिश्रण है) अर्थात् ज्ञान और कर्मके समुच्चयवाले वाक्यसे मेरी बुद्धिको मोहित-सी करके मुझको कर्ममें नियुक्त करते हैं। यद्यपि युद्ध कर्तव्य है अथवा त्यागने योग्य है, ऐसा संशयग्रस्त होकर मैं आपके शरण आया हूँ, अतः मेरा भ्रम दूर करनेके लिए दयासे आप प्रवृत्त हुए हैं, मोहित करनेके लिए नहीं, तो भी विवेकरहित जड़ बुद्धिवाले मुझको आपके वचन मिले-जुलेसे प्रतीत होते हैं, इसलिए मिलेजुले वाक्यसे मेरी बुद्धिको आप मोहित करते हुए-से प्रतीत होते हैं, यह भी मेरी बुद्धिका दोष है, यह भाव है। तो अब क्या करना चाहिए, ऐसा पूछनेपर अर्जुन कहता है- 'तदेकम्' से। क्रिया, कारक और फलके भेदसे ज्ञान और कर्म विरुद्ध हैं, दोनोंका एक कर्ता नहीं हो सकता, इसलिए दोनोंमें से मेरे अधिकारके अनुसार एक ज्ञान अथवा कर्मको, योग्यता और अयोग्यताका विचारकर यही इसके योग्य है, ऐसा निश्चय करके, कहिए। जिससे कि ज्ञान अथवा कर्म दोनोंमें से किसी एकके द्वारा साक्षात् अथवा परम्परासे मैं श्रेयको—परम पुरुषार्थको—प्राप्त होऊँ ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

भगवान्ने कहा—पूर्वमें वेदस्वरूपधारी मैंने इस लोकमें स्वधर्मपरायण ब्राह्मण आदि मुमुक्षुओंके लिए दो प्रकारकी निष्ठाएँ कहीं हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञानी योगियोंके लिए ज्ञानयोगसे एक निष्ठा (अवस्थिति) और गृहस्थोंके लिए कर्मयोगसे दूसरी निष्ठा कही है ॥ ३ ॥

त्वया यदुक्तं तत्सत्यं तवैवाऽयं बुद्धिदोषस्तदा यदुक्तं तत्त्वया न ज्ञातम् । विद्याबुद्धिशक्त्यवस्थादौ विचार्यमाणे तव कर्मण्येवाऽधिकारो न तु संन्यासे । तत एवोक्तं मया 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते' इति । तथापि चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानसिध्द्यै कर्म कुरु, न तु फलायेति सूचयितुं 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः' इत्युक्तम् , न तु कर्म त्यक्त्वा बुद्धिमाश्रयेत्युक्तम्, नाऽप्युभयं च कुर्विति । ज्ञानकर्मणो राजसूय-बृहस्पतिसवादिवद्भिन्नकर्तृकत्वेनैकपुरुषानुष्ठेयत्वायोगादिदं पूर्वमेव सूचितम्—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इति, तदेव पुनरुच्यते श्रूयतामित्याशयेन श्रीभगवानुवाच—लोक इति ।

अस्मिंल्लोके ब्राह्मणादीनां स्वधर्मपराणां मुमुक्षूणां पुरा पूर्वकाले मया वेदरूपिणा सर्वज्ञेन सर्वधर्मोपदेष्ट्रा द्विविधा द्विप्रकारा निष्ठा शास्त्रीयस्याऽनुष्ठेयस्य धर्मस्याऽसाङ्कर्यं

तुमने जो कहा वह सत्य है, तुम्हारी ही बुद्धिका यह दोष है कि जो मैंने तुमसे कहा, उसे तुमने नहीं समझा। विद्या, बुद्धि, शक्ति, अवस्था आदिका विचार करनेपर कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है, संन्यासमें नहीं। इसीलिए मैंने कहा कि तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है। फिर भी चित्तकी शुद्धिके द्वारा ज्ञानकी सिद्धिके लिए कर्म करो, फलके लिए नहीं, ऐसा सूचन करनेके लिए बुद्धिकी अपेक्षा फलके लिए कर्म करनेवाले कृपण हैं, ऐसा कहा है, यह नहीं कहा है कि कर्मको छोड़कर बुद्धिका आश्रय लो और यह भी नहीं कहा है कि दोनों ही करो, क्योंकि राजसूय और बृहस्पति-सव आदिके समान ज्ञान और कर्मके कर्ताओंके भिन्न-भिन्न होनेसे एक पुरुष उन दोनोंका अनुष्ठान नहीं कर सकता, इसका पूर्वमें ही सूचन कर दिया है—'सांख्यविषयक यह बुद्धि तुझसे कही, अब योगविषयक बुद्धिको सुनो। उसीको फिर कहता हूँ, सुनो, इस आशयसे श्रीभगवान् कहते हैं—**'लोके'** इत्यादि ।

इस लोकमें स्वधर्मपरायण ब्राह्मण आदि मुमुक्षुओंसे पुरा—पूर्वकालमें—वेदरूप, सर्वज्ञ और सब धर्मोंके उपदेश करनेवाले मैंने दो प्रकारकी निष्ठा—नियमपूर्वक स्थिति—व्यवस्था कही है

यथा तथा नियमेन स्थितिर्व्यवस्था प्रोक्ता कृतेत्यर्थः । तत्कथमिति चेदुच्यते—ज्ञानयोगेनेति । वेदान्तैः सर्वैः सम्यक् ख्यायते तात्पर्येण प्रतिपाद्यत इति सांख्यं निर्विशेषं परं ब्रह्म तदेव स्वात्मत्वेन ये विदुस्ते सांख्याः ब्रह्मविदस्तेषां सांख्यानां यतीनां ब्रह्मज्ञानाम् । ज्ञानयोगेन ब्रह्मविद् ब्रह्मणा युज्यत एकीक्रियतेऽनेनेति योगः ज्ञानमेव योगो ज्ञानयोगस्तेन सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति ब्रह्माकारवृत्त्या निष्ठा नैश्चल्येन स्थितिः प्रोक्ता सदैकरीत्या कर्तव्यत्वेन विहिता । 'तमेवैकं विजानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ', 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्', 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'तज्जलानिति शान्त उपासीत', 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' इत्यादिवाक्यैरतत्प्रवृत्तिं निषिध्य तेषां ब्रह्मनिष्ठैव कर्तव्यत्वेन प्रोक्तेत्यर्थः । योगिनां कर्मयोगिनां गृहिणां कर्मयोगेन युज्यते अभ्युदयोऽनेनेति योगः कर्मैव योगः कर्मयोगस्तेन निष्ठा नियमस्थितिः प्रोक्ता । 'अहरहः संध्यामुपासीत', 'उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति', 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत', 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः', 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः', 'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च

यानी की है, जिससे कि शास्त्रीय अनुष्ठेय धर्मका साङ्कर्य न हो।

उक्त व्यवस्था किस प्रकारसे की गई है? उसपर कहते हैं—'ज्ञानयोगेन' इत्यादिसे।

सब वेदान्तों द्वारा ठीकरूपसे जो कहा जाता है—तात्पर्यसे प्रतिपादित किया जाता है—वह सांख्य है याने निर्विशेष परब्रह्म, उसीको जो अपने आत्मरूपसे जानते हैं, वे सांख्य—ब्रह्मज्ञानी—कहलाते हैं, उन सांख्योंकी (ब्रह्मज्ञानी यतियोंकी) ज्ञानयोगसे निष्ठा कही है। जिससे ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मके साथ सम्बद्ध किया जाता है याने एकीकृत किया जाता है, वह योग है, ज्ञान ही योग है, उस ज्ञानरूप योगके द्वारा 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार ब्रह्माकारवृत्तिसे निष्ठा (निश्चलरूपसे स्थिति) कही गई है—सदा एक रीतिसे कर्तव्यरूपसे उसका विधान किया गया है। 'उस एक आत्माको जानो, दूसरी बातोंको छोड़ो', 'परम अज्ञानसे पार पानेके लिए आत्माका ॐ से ध्यान करो, तुम्हारा कल्याण हो', 'वेदान्तके विज्ञानसे भली भाँति निश्चय किये हुए अर्थवाले', 'यह सब ब्रह्म है', 'वह जन्म देनेवाला, लय करनेवाला और चेष्टा करनेवाला है, शान्त होकर उसकी उपासना करे', धीर ब्राह्मण पुरुष उसीको जानकर ब्रह्मबुद्धि करे, बहुतसे शब्दोंका ध्यान न करे, क्योंकि वह केवल वाणीका श्रम है' इत्यर्थक वाक्योंसे अन्य प्रवृत्तिका निषेध करके उनका कर्तव्य ब्रह्मनिष्ठा ही है, ऐसा कहा गया है, यह अर्थ है। योगी यानी कर्मयोगी गृहस्थोंकी कर्मयोगसे—जिससे अभ्युदय प्राप्त किया जाता है, वह योग कहलाता है। कर्मरूप ही योग कर्मयोग कहलाता है, उससे—निष्ठा (नियमसे स्थिति) कही है, 'प्रतिदिन सन्ध्या करे' 'सबेरे सूर्यका उदय होनेपर हवन करे', 'वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण अग्निका आधान करे', 'यहां कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीनेकी इच्छा करे', 'इसलिए स्वाध्याय पढ़ना चाहिए', 'ऋत, स्वाध्याय और प्रवचन करे।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

कोई भी पुरुष नित्य श्रौत, स्मार्त आदि कर्मोंका अनुष्ठान किये विना मुक्तिको प्राप्त नहीं कर सकता, एवं आलस्यवश शिखा, उपवीत आदिके त्यागमात्रसे भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता ॥ ४ ॥

स्वाध्यायप्रवचने च । अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । 'सत्यं वद । धर्मं चर ।' 'तानि त्वयोपास्यानि' इति श्रौतस्मार्तकर्मनिष्ठैव कर्मिणां कर्तव्यत्वेन प्रोक्ता विहिता । एवं निष्ठाद्वयं कर्मिणां गृहस्थानामकर्मिणां संन्यासिनां चाऽसङ्कीर्णम् । विभज्य प्रदर्शितमित्यर्थः ॥ ३ ॥

नन्वेवं सति ज्ञानकर्मणोरुभयोरपीतरेतरानपेक्ष्यैव साक्षान्मोक्षहेतुत्वं प्राप्तमिति-चेत्, न; 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादिश्रुतिभिः कर्मणो मोक्षसाधनत्वनिषेधात् 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इतीतरव्यावृत्तिपूर्वकं ज्ञानस्यैव साक्षान्मोक्षसाधनत्वावधारणाच्च न कर्मणो मोक्षसाधनता संभवति । यद्यपि ज्ञानमेव समुत्पन्नं स्वयमन्यानपेक्षया पुरुषस्य सद्यो मुक्तिसुखं प्रयच्छति, तथापि 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' इति श्रवणात् सत्त्वशुद्धिं विना ज्ञानं नोदेति । सत्त्वशुद्धिश्च 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इति श्रवणाद्यज्ञदानादिसत्कर्मानुष्ठितिं विना न सिध्यति । अतो मुमुक्षोरनुत्पन्नात्म-

---

सत्य, स्वाध्याय और प्रवचन करे । अग्नि रक्खे, स्वाध्याय और प्रवचन करे ।' 'सत्य बोलो । धर्म करो। [हमारे जो शोभन चरित्र हैं,] उनको तुम करो । इत्यादि श्रुतियोंसे श्रौत-स्मार्त-कर्मनिष्ठा ही कर्मियोंके लिए कर्तव्य है, ऐसा कहा गया है यानी उसका विधान किया गया है । इस प्रकार कर्मी गृहस्थोंकी और अकर्मी संन्यासियोंकी दो निष्ठाएँ अलग-अलग विभाग करके दिखलायी गई हैं ॥३॥

यदि शङ्का हो कि ऐसा होनेसे ज्ञान और कर्म एक दूसरेकी अपेक्षाके विना ही साक्षात् मोक्षके हेतु हो जायँगे, तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'न कर्मसे न प्रजासे' इत्याद्यर्थक श्रुतियोंसे कर्म मोक्षका साधन है, इसका निषेध किया गया है और 'ज्ञानसे ही कैवल्य प्राप्त होता है' इस श्रुतिसे दूसरेकी व्यावृत्ति कर ज्ञान ही मोक्षका साधन है, ऐसा निर्धारण किया गया है, इसलिए कर्ममें मोक्षकी साधनताका संभव नहीं है । यद्यपि उत्पन्न हुआ ज्ञान ही स्वयं दूसरेकी अपेक्षाके विना पुरुषको शीघ्र मोक्ष-सुख देता है, तो भी 'अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर निश्चित स्मृति होती है' इत्यर्थक श्रुतिसे अन्तःकरणके शुद्ध हुए विना ज्ञानका उदय नहीं होता और 'ब्राह्मण यज्ञसे और दानसे तत्त्वको जाननेकी इच्छा करते हैं' इत्यर्थक श्रुतिसे यज्ञ, दान आदि सत् कर्मोंके अनुष्ठानके विना अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती, ऐसा कहा है, इसलिए जिस मुमुक्षुको आत्मज्ञान नहीं हुआ है, उसको

ज्ञानस्याऽवश्यं चित्तशुद्ध्यर्थं कर्म कर्तव्यमन्यथा मोक्षो न सिद्ध्यतीत्याह—**न कर्मणामिति ।**

नित्यानां कर्मणां श्रौतादीनामनारम्भादनाचरणान्नैष्कर्म्यं न यत्र कर्म तन्निष्कर्म ब्रह्म, 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति श्रुतेः । तस्य भावो नैष्कर्म्यं निष्क्रियब्रह्मात्मनाऽवस्थानलक्षणां मुक्तिं पुरुषो नाऽश्नुते, उपायाभावात् । सत्येवोपाये उपेयं सिद्ध्यति । यत उपायभूतानां कर्मणामननुष्ठानादुपेयभूतं ज्ञानं तत्फलं च नैष्कर्म्यं पुरुषस्य न सिद्ध्यति, अतो मुमुक्षोरीश्वरार्पणबुद्ध्या नित्यं नैमित्तिकं च कर्माऽवश्यमनुष्ठातव्यं तेन ज्ञानं मोक्षश्च सिद्ध्यतीत्यर्थः । ननु 'न कर्मणा न प्रजया' इति श्रुत्यैव कर्मणो मोक्षसाधनत्वनिषेधात् 'संन्यासयोगाद्' इति संन्यासस्यैव यतीनां मुक्तिहेतुत्वश्रवणाच्च सर्वकर्मणां संन्यासमेव कृत्वाऽहं तूष्णीं सुखमासे, न कदाऽपि च कुर्वे क्लेशभूयिष्ठं कर्म; तत्राऽपि च हिंसाप्रधानमित्याशङ्कायामाह—**न चेति ।** कर्मणि क्लेशभूयिष्ठत्वबुद्ध्याऽप्यलसत्वेन वाऽप्यापातवैराग्याच्छिखायज्ञोपवीतत्यागमात्रादेव सिद्धिं नैष्कर्म्यसिद्धिं विदेहमुक्तिं ब्राह्मणो मुमुक्षुर्न समधिगच्छति विनैव वेदान्तश्रवणजन्यज्ञानेन, 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इति श्रुतिप्रसिद्धेः । ननु संन्यस्य मुक्त्यर्थं दहरोपास्तिं वा

चित्तकी शुद्धिके लिए कर्म अवश्य करना चाहिए, इसके विना मोक्ष नहीं होता, ऐसा कहते हैं—**'न कर्मणाम्'** इत्यादिसे ।

श्रौत आदि नित्य कर्मोंका आरंभ किये विना—आचरण किये विना—नैष्कर्मको प्राप्त नहीं होता । जहां कर्म न हो, वह निष्कर्म कहलाता है अर्थात् ब्रह्म, क्योंकि 'निष्कल और निष्क्रिय' ऐसी श्रुति है । निष्कर्मका भाव नैष्कर्म्य है, उसको पुरुष प्राप्त नहीं होता अर्थात् निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थितिरूप मुक्तिको पुरुष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उपायका अभाव है । उपायके होनेपर ही उपेय सिद्ध होता है, उपायरूप कर्मोंका अनुष्ठान न होनेसे पुरुषको उपेयरूप ज्ञान और ज्ञानका फल नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं होता, इसलिए मुमुक्षुको ईश्वरार्पणबुद्धिसे नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे ज्ञान और ज्ञानका फल मोक्ष सिद्ध होता है, यह भाव है ।

'न कर्मसे, न प्रजासे' इत्यर्थक 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादि श्रुतिसे ही कर्ममें मोक्षसाधनत्वका निषेध किया गया है । 'संन्यासयोगसे' इत्यर्थक श्रुति यतियोंके मोक्षके प्रति संन्यास ही कारण है, ऐसा कहती है । इसलिए 'सब कर्मोंका संन्यास करके ही मैं चुपचाप सुखसे बैठता हूँ, बहुत क्लेशवाले कर्मको उसमें भी हिंसाप्रधान कर्मको कभी भी नहीं करता, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'न च'** इत्यादिसे । मुमुक्षु ब्राह्मण कर्ममें क्लेश अधिक समझ कर आलस्यसे अथवा आपात वैराग्य द्वारा शिखा और यज्ञोपवीतके त्यागमात्रसे ही सिद्धि—नैष्कर्म्यसिद्धि—यानी विदेहमुक्ति वेदान्तके श्रवणसे उत्पन्न ज्ञानके विना प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि 'ज्ञानसे ही कैवल्य होता है' ऐसा श्रुतिमें प्रसिद्ध है । मुक्तिके लिए संन्यासका ग्रहणकर मैं दहरोपासना, वैश्वानरी उपासना, शिवकी पूजा अथवा शिवके नाम

वैश्वानरीं वोपास्तिं शिवस्य वा पूजां तन्नामकीर्तनं वा कुर्यामिति चेत्, नाऽऽद्यः; 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति दहरोपासनस्य सत्यकामत्वादिगुणवत्त्वश्रवणाद् गुणवदुपास्त्या तद्भावापत्तिप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, 'स सर्वेषु भूतेष्वन्नमत्ति' इति श्रवणाद्वैश्वानरोपास्त्या सर्वभूतात्मनाऽन्नादनमात्रफलप्रसङ्गात्। न तृतीयः, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इति श्रवणात्तल्लोकप्राप्तिप्रसङ्गात्। नाऽपि चतुर्थः, 'नाऽस्ति पातकमहो कलिकाले नामकीर्तनपरेषु नरेषु', 'पुण्यश्रवणकीर्तनम्' इत्यादिवचनात् पापक्षयमात्रप्रयोजनसिद्धेः। 'यद् दृश्यं तदसद्'इत्यव्याकृतादेः स्थूलान्तरस्य सगुणस्य सर्वस्य दृश्यत्वेनाऽसत्त्वावगमादुपास्यस्य सर्वस्याऽपि सगुणत्वेनाऽसत्त्वाव्यभिचारादसदुपास्त्या त्वसद्भाव एव फलं सिद्ध्यति, न क्वचिदपि सद्भावः; उपासनानुरूपत्वात्फलसिद्धेः, 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति', 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' इत्यादिश्रुतेः 'ये यथा माम्' इति स्मृतेश्च। किञ्च, 'असुर्या नाम ते लोकाः' इति, 'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' इत्यात्मतत्त्वाज्ञानिनोऽसुरलोकप्राप्तिरूपमहानर्थश्रवणात्, 'अरुन्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' इति वेदान्तविमुखानां यतीनामिन्द्रभयश्रवणाच्च; 'प्रत्यक्तत्त्वविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्। श्रुत्या विधीयते तस्मात्तत्त्यागी

कीर्तन करूँगा, ऐसा यदि कहे, तो उसमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है, क्योंकि 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इत्यादिसे दहरोपासनामें सत्यकामत्व आदि गुण सुने जाते हैं, इससे गुणवाली उपासनासे गुणभावकी प्राप्तिका ही प्रसंग होगा। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'वह सब भूतोंमें अन्नको खाता है' इत्यर्थक श्रुतिसे वैश्वानरकी उपासनासे सब भूतोंमें अन्नभक्षणरूप फलका ही प्रसंग होगा। तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'देव होकर देवताओंको प्राप्त होता है' इत्यर्थक श्रुतिसे देव-लोककी प्राप्तिका प्रसंग होगा। चौथा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि 'कलिकालमें नामकीर्तनपरायण मनुष्योंमें पातक नहीं होता, यह आश्चर्य है', 'पुण्य है नाम-श्रवण और नाम-कीर्तन जिसका' इत्यादि वचनोंसे नाम-कीर्तनका पाप-क्षयमात्र प्रयोजन सिद्ध होता है। 'जो दृश्य है, वह असत् है' इत्यर्थक वाक्यसे अव्याकृतसे लेकर स्थूलतक सब सगुण पदार्थोंमें दृश्यत्व होनेसे असत्त्वका ही परिज्ञान होगा और सब उपास्य सगुण होनेके कारण व्यभिचरित हैं, अतः असत् उपासनासे तो असद्भावरूप ही फल सिद्ध होगा, सद्भाव कभी भी सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि उपासनाके अनुसार ही फलकी सिद्धि होती है। 'उसकी जैसी जैसी उपासना करता है, वैसा ही होता है', 'जो ब्रह्मको असत् जानता है, वह असत् ही होता है' इत्याद्यर्थक श्रुतियोंसे, 'जो जैसे मेरी उपासना करते हैं, वैसे ही मैं उन्हें भजता हूँ' इत्यर्थक स्मृतिसे और असुर्या यानी अन्धकारनामके जो लोक हैं, उनको आत्महत्यारे यानी आत्माको न जाननेवाले प्राप्त होते हैं', 'जो यहाँ आत्माको न जाना, तो महान् हानि है' इस प्रकार आत्माके न जाननेवालोंको असुरलोककी प्राप्तिरूप महान् अनर्थ सुननेमें आता है। 'अरुन्मुख (आत्मज्ञानशून्य) संन्यासियोंको इन्द्रने भे[illegible]को दे दिया' इस प्रकार वेदान्तसे विमुख यतियोंका इन्द्रसे भय होता है, ऐसा सुननेमें आता

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कभी कोई भी प्राणी क्षणभरके लिए कर्म किये विना नहीं रह सकता, क्योंकि प्रत्येक प्राणी प्रकृतिके गुणोंसे विवश होकर कुछ-न-कुछ करता ही रहता है ॥ ५॥

पतितो भवेत् ॥' इति यतः स्वरूपविवेकाभावे पतितत्वस्मरणात् संन्यासस्याऽपि कर्मत्वाविशेषात्तावन्मात्रेण मोक्षासंभवाच्च । तस्माद्यतेर्मुमुक्षोः सर्वथा वेदान्तश्रवणेन ज्ञानं प्रयत्नेन संपादनीयमिति सूचितं भगवता 'न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' इति । चकारस्त्वर्थः । 'संन्यासयोगाद्' इत्यत्र ब्रह्मविदां यतीनां ब्रह्मण्यारोपितनामरूपग्रहणत्यागः संन्यासशब्देनोच्यते न तु कर्मसंन्यासः । 'यतयः' इति पदेनैव संन्यासस्य सिद्धत्वादन्यथा पुनरुक्तिप्रसङ्गः । तस्माद्यतेः संन्यासस्य फलं वेदान्तश्रवणजन्यज्ञानमेवेति सिद्धम् ॥ ४ ॥

यदुक्तं सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वाऽहं तूष्णीं सुखमास इति, तन्न; संस्कारजप्रवृत्तेः क्रियाया निःशेषत्यागायोगाद् वृत्तेरालम्बनाभावाच्च तूष्णीमासनं ब्रह्मनिष्ठं विना न कस्याऽपि घटत इत्याशयेनाह—नहीति ।

अत्र लोके जातु कदाचिदपि कश्चिद्यो वा को वाऽपि प्राणी क्षणं क्षणार्धमप्यकर्मकृत्किमपि कर्माऽकुर्वन्न तिष्ठति, किन्तु सुषुप्तिं विना जाग्रत्स्वप्नयोः सर्वदा

है, इसलिए 'प्रत्यक्-तत्त्वके विवेकके लिए सब कर्मोंके संन्यासका श्रुति द्वारा विधान किया जाता है,
इसलिए कर्मोंको त्यागनेवाला पतित होता है ।' इस प्रकारकी स्मृति स्वरूपके विवेकके न रहनेपर
यतिका पतन होता है, ऐसा बतलाती है और संन्यास भी कर्मरूप है, इसलिए संन्यासमात्रसे
मोक्षका असंभव है । यति मुमुक्षुको सर्वथा वेदान्तके श्रवणसे प्रयत्नपूर्वक ज्ञानका संपादन करना
चाहिए, ऐसा भगवान्ने 'न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' इस वाक्यसे सूचन किया है ।
यहां चशब्द तुशब्दके अर्थमें है । 'संन्यासयोगात्' इस श्रुतिमें संन्यासशब्दसे ब्रह्ममें आरोपित नाम
और रूपके ग्रहणका त्याग ही कहा गया है, कर्मका संन्यास नहीं, क्योंकि 'यतयः' इस पदसे ही
संन्यास सिद्ध है, नहीं तो पुनरुक्तिका प्रसङ्ग हो जायगा, इसलिए यतिके संन्यासका फल वेदान्त-
श्रवणजन्य ज्ञान ही है, यह सिद्ध हुआ ॥ ४ ॥

यह जो कहा था कि सब कर्मोंका त्याग करके मैं चुपचाप सुखसे बैठता हूँ, वह भी युक्त नहीं
है, क्योंकि संस्कारोंसे उत्पन्न हुई प्रवृत्तिका निःशेष त्याग नहीं हो सकता और वृत्तिका आलम्बन न
होनेसे ब्रह्मनिष्ठके सिवा किसीका भी चुप होकर बैठना नहीं बन सकता, इस आशयसे कहते हैं—
'नहि' इत्यादिसे ।

इस लोकमें कभी कोई भी प्राणी क्षण—आधे क्षण भी—किसी कर्मको किये विना नहीं
बैठता, किन्तु सुषुप्तिके सिवा जाग्रत् और स्वप्न दोनोंमें सर्वदा शरीरसे, मनसे, वाणीसे अश

कायेन वा मनसा वा वाचा वा चक्षुरादिभिर्वा यत्किञ्चित्कर्म कुर्वन्नेव तिष्ठति न क्वचिदपि तूष्णीमित्यर्थः । इदं सर्वं प्रत्यक्षमिति हिः प्रसिद्धिद्योतनार्थः । कस्मात्तूष्णीं स्थातुं न शक्नोतीत्याकाङ्क्षायामाह—**कार्यत इति** । हि यस्मात् कारणात् सर्वोऽपि प्राणिवर्गः प्रकृतिजैः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका मूलप्रकृतिस्तस्याः सकाशाज्जाताः प्रकृतिजास्तैर्गुणैर्गुणाः द्रव्यवासना गुणवासना कर्मवासना जातिवासना रागद्वेषादयश्च तैः प्रकृतिजैर्गुणैरन्तः प्रेर्यमाणोऽवशोऽस्वतन्त्रः सन्नेव बहिरन्तः कर्म नानाव्यापाररूपं कार्यते । वासनात्मिकायाः प्रवृत्तेर्वशो भूत्वा न कोऽपि तूष्णीं स्थातुं शक्नोति बिना ब्रह्मविद्वर्यम् । ब्रह्मविद्वर्यस्तु निर्विकल्पसमाध्यग्निना निर्मूलितप्रकृतिगुणतत्कार्यतूलपटलत्वाद्वायुना मेरुरिव स्वयं गुणैर्न चाल्यते, किन्तु निष्क्रियब्रह्मात्मना तूष्णीमेव तिष्ठति । 'उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते' इति स्मरणात् । ततो ब्रह्मविद्वर्य एक एव तूष्णीं स्थातुं शक्नोति, न ततोऽन्य इत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु सर्वं कर्म संन्यस्य करपादादीन्द्रियग्रामं रुद्ध्वा बहिस्तूष्णीं स्थाणुवन्नैश्चल्येन स्थातुं शक्यत एवेत्याशङ्कायाम्, न; बन्धमोक्षयोर्गतिं स्वाधिकारं चाऽविज्ञाय किं कर्मणा निष्फलेन क्लेशभूयिष्ठेनेति दुरहङ्कारेण मुक्तिसाधनं वैदिकं कर्म सर्वं संन्यस्य यस्तूष्णीं तिष्ठति स दम्भाचार इत्याह—**कर्मेन्द्रियाणीति** ।

नेत्र आदिसे कुछ-न-कुछ कर्म करता ही रहता है, कहीं भी चुपचाप नहीं रहता, यह अर्थ है। यह सबको प्रत्यक्ष है, ऐसी प्रसिद्धि बतलानेके लिए श्लोकमें हिशब्द दिया गया है । चुपचाप क्यों नहीं स्थित रह सकता ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'कार्यते' इत्यादिसे । जिस कारणसे सभी प्राणीवर्ग प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणों द्वारा कर्ममें प्रवृत्त किया जाता है, अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुणात्मक मूल प्रकृति है, उससे उत्पन्न हुए गुण प्रकृतिज हैं, उन गुणोंके द्वारा (द्रव्यवासना, गुणवासना, कर्मवासना, जातिवासना, राग, द्वेष आदि प्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा) भीतरसे प्रेरित हुए अवश यानी पराधीन प्राणीसे ही बाहर और भीतर नाना व्यापाररूप कर्म कराया जाता है । वासनास्वरूप प्रकृतिके वश होकर ब्रह्मविद्के सिवा कोई भी चुपचाप नहीं ठहर सकता। ब्रह्मविद् तो निर्विकल्प समाधिरूप अग्निसे प्रकृतिके गुण और उनके कार्यरूप रुईके ढेरका उच्छेद हो जानेसे यानी जल जानेसे वायुसे मेरुके समान गुणोंसे विचलित नहीं किया जाता, किन्तु निष्क्रिय ब्रह्मात्मरूपसे चुपचाप ही बैठा रहता है, क्योंकि 'उदासीनके समान बैठा हुआ गुणोंसे चलायमान नहीं किया जाता' ऐसी स्मृति है, इसलिए एक ब्रह्मविद् ही चुपचाप रह सकता है, उसके सिवा दूसरा नहीं रह सकता, यह अर्थ है ॥ ५ ॥

सब कर्मोंका त्यागकर हाथ, पैर आदि इन्द्रियोंको रोककर बाहरसे चुपचाप स्थाणुके समान निश्चल होकर अवस्थित हो सकता है, ऐसी यदि शङ्का हो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि बन्ध और मोक्षके स्वरूपको और अपने अधिकारको न जानकर 'निष्फल और अधिक कष्टवाले कर्मसे क्या होगा ?

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकसे शून्य जो कोई कर्मेन्द्रियोंका संयम कर उनके विषयोंका मनसे ध्यान करता हुआ रहता है, वह सज्जनों द्वारा आत्मवञ्चक कहा जाता है ॥ ६ ॥

जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंका संयम कर आसक्तिरहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे श्रौत-स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान करता है, वह पूर्वोक्त आत्मवञ्चक कर्मयोगीकी अपेक्षा उत्तम है ॥ ७ ॥

विमूढात्मा विमूढः कार्याकार्यविवेकरहित आत्मा मनो यस्य स विमूढात्मा सन् स्वस्य कर्तव्यं वैदिकं कर्म मुक्तिसाधनं परित्यज्य बहिः कर्मेन्द्रियाणि संयम्य निरुध्य चक्षुषी निमील्याऽन्तरिन्द्रियार्थान् शब्दादीन् स्मरंश्चिन्तयन् य आस्ते ब्रह्मविदहमेव कर्मसंन्यासेन कृतार्थोऽस्मीति स मिथ्याचारोऽसदाचारः कपटचारित्र आत्मवञ्चक इति सद्भिरुच्यत इत्यर्थः । एतेन श्रवणार्थं वाऽन्यथा वा संन्यस्य श्रवणादिकमकृत्वा वेषेण जीवनं कुर्वन् संन्यासेनैव कृतार्थोऽहमिति यो यतिर्मन्यते सोऽपि मिथ्याचार एवेति सूचितं भवति ॥ ६ ॥

अनात्मज्ञस्य मुमुक्षोः कर्मसंन्यासापेक्षया कर्मयोग एव श्रेष्ठ इत्याह—**यस्त्विति ।**

इस प्रकारके दुरहङ्कारसे मुक्तिके साधन समस्त वैदिक कर्मोंका त्यागकर जो चुपचाप बैठता है, वह दुराचारी है, ऐसा कहते हैं—'कर्मेन्द्रियाणि' इत्यादिसे ।

विमूढ यानी कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकसे रहित जिसका आत्मा—मन—है, वह विमूढात्मा कहलाता है। विमूढात्मा होकर अपने कर्तव्यभूत मुक्तिके साधन वैदिक कर्मोंका त्यागकर बाहरसे कर्मेन्द्रियोंका संयमकर (रोककर) यानी आंखोंको मीचकर भीतर इन्द्रियोंके विषय शब्दादिका स्मरण (चिन्तन) करता हुआ जो बैठता है—मैं ही ब्रह्मज्ञानी हूँ, कर्मोंके त्यागनेसे कृतार्थ हूँ, ऐसा मानता है—वह मिथ्याचारी (असदाचारी) कपट करनेवाला, आत्मवञ्चक है, ऐसा शिष्ट पुरुषों द्वारा कहा जाता है, यह अर्थ है। इससे यह सूचित होता है कि श्रवणके लिए अथवा अन्य कारणसे संन्यासका ग्रहणकर श्रवण आदि न करके वेषसे जीविका करनेवाला जो यति संन्याससे ही मैं कृतार्थ हूँ, ऐसा मानता है, वह भी मिथ्याचारी ही है ॥ ६ ॥

अनात्मज्ञ मुमुक्षुके लिए कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, ऐसा कहते हैं—'यस्तु' इत्यादिसे ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

अर्जुन, तुम विहित कर्म करो, कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, यदि तुम कर्म न करोगे, तो तुम्हारी शरीरयात्रा भी नहीं हो सकेगी ॥ ८ ॥

तुशब्दः पूर्वस्मादस्य श्रेष्ठत्वद्योतनार्थः । यस्त्वनात्मज्ञो मुमुक्षुर्विचक्षणः कर्मसंन्यासमकृत्वैव चक्षुरादीनीन्द्रियाणि रागद्वेषादिदोषाणां गोचराणि न भवेयुर्यथा तथाऽन्तर्नियम्य स्वयमसक्तः फलाभिसन्धिरहितो भूत्वेश्वरार्पणबुद्ध्या कर्मेन्द्रियैर्वागादिभिः कर्मयोगं श्रौतं स्मार्तं वाऽऽरभते श्रद्धया चित्तशुद्ध्यै करोति स विशिष्यते । मोक्षसाधनीभूतकर्मयोगनिष्ठत्वात् कर्मयोगी पूर्वोक्तदाम्भिककर्मसंन्यासापेक्षया श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ ७ ॥

मुमुक्षोर्नैष्कर्म्यसिद्धये मिथ्याचारत्वादौ निवृत्तये चाऽवश्यं कर्म कर्तव्यमिति सूचयितुमाह—नियतमिति ।

हि यस्मात्कारणादकर्मणः येन न सम्भाव्यते कर्मबन्धः पुरुषस्य स कर्मसंन्यासस्तस्मादकर्मणो मूढकर्तृकाद्विवेकवता मोक्षसाधनत्वेन क्रियमाणं कर्म ज्यायः श्रेष्ठम् । यद्यपि 'संन्यास एवाऽत्यरेचयद्' इति संन्यासस्यैव सर्वोत्कृष्टतमत्वं श्रूयते, तथापि 'योग्यप्रयुक्तं साधनं कार्यसाधकम्' इति न्यायेन नाऽहं कर्म करोमीत्यभिमानवन्मूढतमकृतत्वात् संन्यासस्य तदपेक्षया परमेश्वरमाराध्याऽहं तरिष्यामीती-

---

पहलेकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता दिखलानेके लिए श्लोकमें तुशब्द दिया गया है। जो कोई अनात्मज्ञ चतुर मुमुक्षु कर्मसंन्यास किये विना ही चक्षु आदि इन्द्रियोंको जैसे राग-द्वेष आदि दोषोंको विषय करनेवाली न हों, वैसे भीतरसे नियममें रखकर स्वयं असक्त—फलके सङ्कल्पसे रहित—होकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे वाणी आदि कर्मेन्द्रियोंसे श्रौत अथवा स्मार्तरूप कर्मयोगका आरम्भ करता है—श्रद्धासे चित्तकी शुद्धिके लिए कर्मोंको करता है—वह श्रेष्ठ है अर्थात् मोक्षसाधनीभूत कर्मयोगमें निष्ठा होनेसे कर्मयोगी पूर्वोक्त दाम्भिक कर्मसंन्यासीकी अपेक्षासे श्रेष्ठ है, ऐसा भाव है ॥ ७ ॥

नैष्कर्म्यकी सिद्धिके लिए और मिथ्याचारत्व आदिकी निवृत्तिके लिए मुमुक्षुको कर्म अवश्य करना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं—'नियतम्' इत्यादिसे ।

जिस कारणसे अकर्मसे—जिससे पुरुषको कर्म वन्धनरूप न हो, वह अकर्म याने संन्यास है, उस अकर्मसे—अर्थात् मूढ़ द्वारा किये गए अकर्मसे विवेकी द्वारा किया गया मोक्षका साधनरूप कर्म अधिक श्रेष्ठ है । यद्यपि 'संन्यास ही सर्वोत्तम है' इत्यर्थक श्रुतिसे संन्यास ही सबसे उत्कृष्टतम है, ऐसा सुननेमें आता है, तो भी 'योग्य व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त साधन कार्यका साधक होता है' इस न्यायसे 'मैं कर्म नहीं करता' इस प्रकारके अभिमानवाले मूढ़तमके द्वारा किये गये संन्यासकी अपेक्षा 'मैं परमेश्वरका

श्वरार्पणबुद्ध्या निरभिमानिना मुमुक्षुणा क्रियमाणत्वात् कर्म ज्याय इत्युपचर्यते, न तु संन्यासो दूष्यते । किन्तु विद्वत्संन्यासाद्विविदिषासंन्यासाद्विलक्षणः संन्यासः स्वस्थेन न कर्तव्य इत्युच्यते । तत्र विध्यभावाद्यत आत्मतत्त्वमज्ञात्वैव केवलमूढेनाऽविविदिषुणा कर्मसंन्यासः कृतश्चेत्, तेन प्रत्यवाय एकोऽनर्थः, नरकपातो द्वितीयः, दुर्योनिस्तृतीयः, मोक्षाभावश्चतुर्थः । कृते तु कर्मणि प्रत्यवायाभावः ईश्वरप्रसादश्चित्तशुद्धिर्ज्ञानं मोक्षश्च सिध्यति । अतः फलभूयस्त्वात् कर्मणः त्वं नियतं विध्युक्तं कर्म नित्यं वा नैमित्तिकं वेश्वरप्रीत्यर्थं चित्तशुद्ध्यर्थं च कुर्वित्यर्थः । न केवलमामुष्मिकार्थमेव कर्म कर्तव्यं भवति किन्त्वैहिकार्थमपि कर्तव्यमित्याह—शरीरेति । निश्चलात्मना स्थाणुवत्तूष्णीमवस्थानं खल्वकर्म कर्मसंन्यासस्तस्मादकर्मणो निःशेषकर्मपरित्यागात् ते शरीरयात्राऽपि न प्रसिद्ध्येत् । सुखेन न सिद्ध्यतीत्यर्थः । नहि बृहच्छिलावद्गुहायां कन्दरे वा तूष्णीं तिष्ठतः शरीरयात्रा सिध्यति यत्किञ्चित्तदनुकूलव्यापारं विना । ततस्तदर्थमपि कर्म कर्तव्यमेव । ननु यावता कर्मणा शरीरपरित्राणं सिद्ध्येत्तावत् कर्म कुर्यां न ततोऽतिरिक्तमिति चेत् तत एव भवानतिमूढः संन्यासानर्हश्च भवति; यतः स्वेतरस्यैवाऽनात्मनो देहस्य रक्षणं कर्तुमिच्छति न त्वात्मनः । तवाऽयमात्मा जननमरणप्रवाहे पतित्वा मुहुर्मुहुर्निमज्जन्नुन्मज्जन्निरन्तरदुःखेन क्लिश्नाति ।

आराधन करके संसारसे तर जाऊँगा,' इस प्रकार ईश्वरार्पणबुद्धिसे अभिमानरहित मुमुक्षु द्वारा अनुष्ठित कर्म श्रेष्ठ है, ऐसा उपचारसे कहा जाता है, इससे संन्यास दूषित नहीं किया जाता; किन्तु विद्वत्संन्याससे और विविदिषासंन्याससे भिन्न संन्यास स्वस्थ पुरुषको नहीं करना चाहिए, ऐसा कहा जाता है, क्योंकि उसमें विधिका अभाव है। यतः आत्मतत्त्वको जाने बिना ही नितान्त मूढ़ (अविद्वान्) यदि कर्मसंन्यास (कर्मत्याग) करे, तो उससे प्रत्यवाय एक अनर्थ होता है, नरकपात दूसरा, दुर्योनिकी प्राप्ति तीसरा और मोक्षका अभाव चौथा अनर्थ होता है और कर्म करनेसे तो प्रत्यवायका अभाव, ईश्वरका प्रसाद, चित्तकी शुद्धि, ज्ञान और मोक्ष सिद्ध होता है, इसलिए कर्म अधिक फलवाला होनेसे तुम नियत—विहित नित्य अथवा नैमित्तिक—कर्म ईश्वरकी प्रीतिके लिए और चित्तकी शुद्धिके लिए करो, ऐसा अर्थ है। केवल परलोकके लिए ही कर्म नहीं करना चाहिए, किन्तु इस लोकके लिए भी कर्म करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'शरीर०' इत्यादिसे। निश्चल शरीरसे ठूंठके समान चुपचाप स्थित होना अकर्म—कर्मसंन्यास—है, इसलिए अकर्मसे—निःशेष कर्मका त्याग करनेसे—तुम्हारी शरीरयात्रा भी सिद्ध नहीं होगी, यह अर्थ है। बड़े पत्थरके समान गुहामें या कन्दरामें चुपचाप बैठनेवाला शरीरके अनुकूल थोड़ा बहुत व्यापार किये बिना अपनी शरीरयात्रा सिद्ध नहीं कर सकता, इससे उसके लिए भी कर्म करना ही चाहिए। यदि कहो कि जितने कर्मसे शरीरकी रक्षा हो जाय, उतना ही कर्म करूँगा, उससे अधिक नहीं, तो भी तुम अत्यन्त मूढ हो और संन्यासके योग्य नहीं हो, क्योंकि अपनेसे भिन्न अनात्मभूत देहकी ही रक्षा करना चाहते हो न कि आत्माकी। तुम्हारा यह आत्मा जन्म-मरणके प्रवाहमें गिरकर वारम्वार डूबता, उछ[illegible]

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचार ॥ ९ ॥

परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिए किये जानेवाले कर्मोंको छोड़कर दूसरे जितने काम्य और निषिद्ध कर्म हैं, उनसे लोग जन्म आदि बन्धको ही प्राप्त होते हैं, इसलिए हे कौन्तेय, तुम आसक्तिको छोड़कर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए कर्म करो ॥९॥

त्वमात्मनस्त्राणमकृत्वा अनात्मनः शत्रोरेव त्राणाय यतस इतोऽपि वा दुरभिमानं त्यक्त्वा कर्मणा शरीरत्राणमत्यन्तास्थया यथा करोषि तथा विहितानि कर्माण्यनुष्ठाय तेन प्राप्तचित्तशुद्धश्चात्मज्ञानमपरोक्षलक्षणं संपाद्याऽऽत्मानं दुःखसागरादुद्धर । 'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्' इति वचनादात्मनो मोक्षार्थमेव कर्म कुरु, न क्वचिद्प्यन्यार्थमित्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु 'कर्मणा बद्ध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते' इति कर्मणां बन्धहेतुत्वस्मरणात् कथं बन्धकं कर्म कर्तुं शक्यत इत्याशङ्कायां न, काम्यस्यैव कर्मणो बन्धकत्वं नत्वीश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्येत्याह—यज्ञार्थादिति ।

'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रवणाद्यज्ञस्य श्रीविष्णोः परमेश्वरस्याऽर्थं सन्तुष्टिनिमित्तं यत्कर्म क्रियते वैदिकं तद्यज्ञार्थमित्युच्यते । तस्माद्यज्ञार्थात् कर्मणो नित्यादीश्वरप्रीतिहेतोरन्यत्र काम्यादौ कर्मण्ययं लोकोऽधिकारी ब्राह्मणादिः कर्मबन्धनः कर्मैव बन्धनं जन्मादेर्निबन्धनं हेतुर्यस्य स कर्मबन्धनो भवति । विहिताकरणेन वा काम्येन

निरन्तर क्लेश पाता है। तुम आत्माका रक्षण न करके अनात्मभूत शत्रुका रक्षण करनेके लिए ही यत्न करते हो, इसलिए दुरभिमानका त्याग कर जैसे शरीरकी रक्षाके लिए अत्यन्त आस्थासे कर्म करते हो, वैसे ही विहित कर्मोंका अनुष्ठान करके उससे प्राप्त हुई चित्तकी शुद्धिसे अपरोक्षलक्षण आत्मज्ञानका संपादन करके आत्माका दुःखसागरसे उद्धार करो। 'आत्माका आत्मासे उद्धार करो।' इस वचनसे आत्माके मोक्षके लिए ही कर्म करो, कहीं भी अन्य अर्थके लिए कर्म न करो, ऐसा अर्थ है ॥ ८ ॥

'प्राणी कर्मसे बाँधा जाता है और विद्यासे छूट जाता है', इस प्रकार स्मृतिसे कर्म बन्धनके हेतु हैं, ऐसा प्रतिपादित है, अतः बन्धक कर्म मैं कैसे कर सकता हूँ, ऐसी यदि आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि काम्य कर्म ही बन्धक है, ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया गया कर्म नहीं, ऐसा कहते हैं—'यज्ञार्थात्' इत्यादिसे ।

'यज्ञ निश्चय विष्णु है' इत्यर्थक श्रुतिसे यज्ञ नाम विष्णुका है, उसके लिए—श्रीविष्णु परमेश्वरकी सन्तुष्टिके लिए—जो वैदिक कर्म किया जाता है, वह यज्ञार्थ कहलाता है। इसलिए ईश्वरकी प्रीतिके हेतु नित्य आदि यज्ञार्थ कर्मके सिवा काम्य आदि कर्ममें अधिकारी यह लोक याने ब्राह्मण आदि कर्मबन्धन [illegible] नहीं अर्थात् कर्म ही है बन्धन—जन्म आदिका हेतु—जिसका, अर्थात् कर्मों द्वारा बन्धनको प्राप्त

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माने श्रुति द्वारा प्रतिपादित यज्ञोंके साथ ब्राह्मण आदि वर्णोंकी उत्पत्ति कर उनसे कहा कि तुम लोग श्रौत और स्मार्त यज्ञोंका अनुष्ठान कर देवताओंको प्रसन्न करो । देवताओंकी प्रसन्नताके लिए किया गया यज्ञ तुम्हारे लिए अभीष्ट फलदायक हो ॥ १० ॥

निषिद्धेन वा कृतेन कर्मणा नरो बन्धवान् भवति, न त्वीश्वरप्रीत्यै क्रियमाणेन कर्मणा । 'तत्कर्म यन्न बन्धाय' इति स्मरणादीश्वराराधनात्मकमेव कर्माबन्धकं तदन्यत्तु बन्धकमित्यर्थः । ततस्तदर्थमीश्वरप्रीत्यर्थं चाऽवश्यं त्वं मुक्तसङ्गः फलाभिसन्धिरहितो भूत्वा विहितं कर्म समाचर सम्यगनुतिष्ठ । तेन तुष्टेश्वरप्रसादाच्छुद्धात्मा सन् ज्ञानं प्राप्य मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः ॥ ९ ॥

पूर्वं नैष्कर्म्यसिद्धये मिथ्याचारत्वनिवृत्तये शरीरयात्रासिद्धये चाऽवश्यं कर्म कर्तव्यमित्युक्त्वा इदानीं 'धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्' इति सूत्रोक्तरीत्या धर्मज्ञतमेन ब्रह्मणा प्रोक्तः प्रामाणिकोऽयं परमो धर्मो मुमुक्षूणामवश्यं कर्तव्य इन्द्रादिदेवताप्रसादसिद्धय इत्याह—सहयज्ञा इति द्वाभ्याम् । ।

पुरा सृष्ट्यादौ प्रजापतिर्ब्रह्मा श्रुत्युक्तैर्यज्ञैः सह प्रजाः ब्राह्मणादिवर्णान् सृष्ट्वा ताः प्रजा उवाच यूयमनेन यज्ञेन श्रौतेन स्मार्तेन च प्रसविष्यध्वं चरुपुरो-

---

होता है । विहितके न करनेसे अथवा काम्य या निषिद्ध कर्मके करनेसे मनुष्य बँध जाता है, ईश्वरकी प्रीतिके लिए किये गये कर्मसे नहीं । अर्थात् 'जो वन्धनका कारण न हो, वह कर्म है' इत्यर्थक स्मृतिसे ईश्वरके आराधनके लिए किया गया कर्म बन्धक नहीं होता और उससे अतिरिक्त कर्म बंधक होता है, यह भाव है । इससे उसके लिए—ईश्वरकी प्रीतिके लिए—मुक्तसङ्ग होकर—फलके सङ्कल्पसे रहित होकर—तुम विहित कर्मका आचरण करो—यानी सम्यक् अनुष्ठान करो । उससे तुष्ट हुए ईश्वरके प्रसादसे शुद्धचित्त होकर और ज्ञान प्राप्त करके तुम मुक्त हो जाओगे, यह अर्थ है ॥ ९ ॥

पूर्वमें नैष्कर्म्यकी प्राप्तिके लिए, मिथ्याचारत्वकी निवृत्तिके लिए और शरीरयात्राकी सिद्धिके लिए अवश्य कर्म करना चाहिए, ऐसा कहकर अब 'धर्मज्ञोंका सिद्धान्त प्रमाण है' इत्यर्थक सूत्रमें प्रतिपादित रीतिसे धर्मज्ञतम ब्रह्माजीके द्वारा कहे गये इस प्रामाणिक परम धर्मका मुमुक्षुओंको, इन्द्रादि देवताओंकी प्रसन्नताके लिए, अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'सहयज्ञाः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

पूर्वमें यानी सृष्टिके आदिमें प्रजापति ब्रह्मा श्रुतिमें कहे गये यज्ञों सहित प्रजाको— आदि वर्णोंको—उत्पन्न कर उनसे बोले कि तुम इन श्रौत और स्मार्त यज्ञों

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

श्रौत और स्मार्त यज्ञसे तुम लोग इन्द्र आदि देवताओंको प्रसन्न रक्खो, यज्ञसे सन्तुष्ट हुए इन्द्र आदि देव तुम्हारी अभीष्ट फलके प्रदान द्वारा सम्भावना करें, यों एक दूसरेकी संभावनासे तुम लोग परम कल्याणको प्राप्त करोगे ॥ ११ ॥

डाशादिद्रव्यैर्देवानां प्रीतिमुत्पादयध्वम् । एष देवानुद्दिश्य श्रद्धया कृतो यज्ञोऽपि वः इष्टानिच्छाया विषयभूतान् काम्यन्त इति कामाः फलविशेषास्तान् दोग्धीतीष्टकामधुक् भवतु । निष्कामानां ज्ञानप्रतिबन्धकदुरितक्षयाय सकामानां स्वर्गसुखाय भवेदित्यभिप्रायः ॥ १० ॥

कथमयं यज्ञोऽस्माकमिष्टार्थाय भवतीत्यत आह—देवानिति ।

अनेन यज्ञेन श्रौतेन स्मार्तेन च यूयं देवानिन्द्रादीन् भावयत संभावयत । चरुपुरोडाशादिभिः सन्तुष्टान् कुरुतेत्यर्थः । अनेन संभावितास्तुष्टाः सन्तस्ते देवा इन्द्रादयो वः युष्मान् भावयन्तु इष्टार्थप्रदानेन संभावयन्तु । एवं परस्परं भावयन्तः सन्तो यूयं देवानां प्रसादेन निःशेषविनष्टप्रतिबन्धा भूत्वा सत्त्वशुद्ध्या सम्यक् ज्ञानं प्राप्य परं निरतिशयानन्दलक्षणं श्रेयो विदेहकैवल्यमवाप्स्यथ । यद्यप्यत्र 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' इत्युभयेषां परश्रेयःप्राप्तिविधिः प्रतीयते, तथापि विचार्यमाणे प्रजानामेव धर्मोपदेशविषयत्वेनोक्तधर्मानुष्ठानलभ्यपरमश्रेयःप्राप्तिविधिर्न तु

आदि द्रव्यों द्वारा देवताओंकी प्रीति उत्पन्न करो। देवताओंके लिए श्रद्धासे किया गया यज्ञ भी तुम्हारे लिए इष्टकामधुक् हो (इष्टोंको—इच्छाके विषयभूत कामोंको—जो चाहे जाते हैं, वे काम कहलाते हैं याने फलविशेष—भोग—,उनको जो देता है, वह इष्टकामधुक् कहलाता है ।) अर्थात् यज्ञ निष्कामोंको ज्ञानके प्रतिबन्धक पापोंके क्षयके लिए और कामनावालोंको स्वर्गसुखके लिए हो, यह अभिप्राय है ॥ १० ॥

यह यज्ञ हमारे इष्ट अर्थके लिए कैसे होता है, इसके उत्तरमें कहते हैं—'देवान्' इत्यादिसे।

इस श्रौत और स्मार्त यज्ञसे इन्द्रादि देवताओंको प्रसन्न करो । चरु, पुरोडाश आदिसे सन्तुष्ट करो, यह अर्थ है । इससे संभावित हुए—संतुष्ट हुए—इन्द्रादि देवता तुमको भावित करें—इष्ट पदार्थोंको देकर सन्तुष्ट करें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेको सन्तुष्ट करते हुए तुम देवताओंके प्रसादसे निःशेष प्रतिबन्ध विनष्ट होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धिसे सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके परको—निरतिशय आनन्दरूप श्रेयको—विदेहकैवल्यको—प्राप्त होओगे । यद्यपि यहां 'परस्पर सन्तुष्ट करते हुए परम श्रेयको प्राप्त होओगे, ऐसी दोनोंके परमश्रेयकी विधि प्रतीत होती है, तो भी विचार करनेपर नि[illegible] ही धर्मके उपदेशकी विषय है, इससे प्रजाके लिए ही उक्त धर्मके अनुष्ठानसे लभ्य परमश्रेयकी [illegible] नहीं [illegible] अनुग्रह करनेवाले देवताओंके लिए नहीं है, वे उपदेशके विषय नहीं हैं,

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञों द्वारा संभावित देवता तुम्हें इष्ट भोग देंगे। उन देवताओं द्वारा दिये गये पदार्थोंका, उन्हें समर्पण किये बिना, जो कोई अपने आप उपभोग करता है, वह चोर ही है ॥ १२ ॥

तदनुग्राहकाणां देवानाम् । तेषामुपदेशाविषयत्वात् स्वयंप्रभातविज्ञानत्वाज्जीवन्मुक्तत्वाच्च न श्रेयोविधिरुपयुज्यते । ततः संभावनायामेव परस्परपदस्य संबन्धो न तु परमश्रेयःप्राप्तिविधाविति ज्ञेयम् ॥ ११ ॥

यज्ञैः संभाविता देवा मुमुक्षूणां न केवलमामुष्मिकमेव सुखं प्रयच्छन्ति, किन्तु ऐहिकसंपत्सुखमपि, अतस्तेषां प्रीत्यै यज्ञाद्यवश्यं कर्तव्यमन्यथा प्रत्यवायी भवतीति सूचयितुमाह—इष्टानिति ।

यज्ञैः श्रौतैः स्मार्तैश्च भाविताः संभाविताः देवा वो युष्मभ्यमिष्टानिच्छाविषयभूतान् भोगान् पशुपुत्रकलत्रधनधान्यादीन् दास्यन्ते वितरिष्यन्ते । एवं तैर्देवैर्दत्तान् पदार्थान् पुनश्चरुपुरोडाशादिरूपेणैभ्यो देवेभ्योऽप्रदायाऽदत्त्वा देवानामृषीणां पितॄणां च यज्ञेन ब्रह्मचर्येण प्रजया चाऽनृण्यमकृत्वा यः स्वशरीरमेव पोष्टुं भुङ्क्ते सः स्तेनो देवादीनां चोर एव भवति शिष्टानां निन्द्यश्च। देवब्रह्मस्वहारिणस्तस्करस्य या गतिस्तां च गच्छतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

क्योंकि वे स्वयंप्रभातविज्ञान हैं (उनको आत्मतत्त्वज्ञान स्वतः प्राप्त है) और जीवनमुक्त भी हैं, अतः उनके लिए श्रेयकी विधि उपयुक्त नहीं है, इससे संभावनामें ही परस्पर पदका संबन्ध है, परम श्रेयकी प्राप्तिकी विधिमें संबन्ध नहीं है, ऐसा जानना चाहिए ॥ ११ ॥

यज्ञोंसे सन्तुष्ट देवता मुमुक्षुओंको केवल परलोकके सुखको ही नहीं देते, किन्तु यहाँके संपत्ति-सुखको भी देते हैं, इसलिए उनकी प्रसन्नताके लिए यज्ञ आदिका अवश्य ही अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा न करनेसे मनुष्य प्रत्यवायी (पापी) होता है, ऐसा सूचन करनेके लिए कहते हैं— 'इष्टान्' इत्यादि ।

श्रौत और स्मार्त यज्ञोंसे भावित—सन्तुष्ट हुए—देवता तुमको इष्ट—इच्छाके विषयभूत— पशु, पुत्र, स्त्री, धन-धान्य आदि भोगोंको देंगे, वितरित करेंगे। इस प्रकार उन देवताओं द्वारा दिये गये पदार्थोंको फिर चरु, पुरोडाश आदिरूपसे उन देवताओंको प्रदान न कर अर्थात् देवता, ऋषि और पितरोंका यज्ञ, ब्रह्मचर्य और प्रजासे ऋण न चुकाकर जो अपने शरीरको पुष्ट करनेके लिए खाता है, वह देवताओंका चोर और शिष्ट पुरुषों द्वारा निन्द्य ही होता है। देव और ब्र[illegible] धनको हरनेवाले की जो गति है, उसको प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ है ॥ [illegible]

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

यज्ञसे अवशिष्ट अन्नका भक्षण करनेवाले ब्राह्मण आदि सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो केवल अपने उदरकी पूर्तिके लिए पाक करते हैं, वे पापका ही भक्षण करते हैं ॥ १३ ॥

ये तु पञ्चमहायज्ञान् कृत्वा शिष्टान्नाशिनो भवन्ति ते सर्वपापैर्मुक्ता भवन्ति । ये तु देवतातिथ्यादीननुद्दिश्य स्वार्थमेव पचन्ति ते पापाशिन एवेति पञ्चमहायज्ञानुष्ठानाननुष्ठानयोः फलं प्रतिपादयति पञ्चमहायज्ञानां दैनन्दिनत्वेनाऽवश्यकर्तव्यत्वदार्ढ्याय—यज्ञशिष्टाशिन इति ।

ब्राह्मणा यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो 'देवयज्ञः पितृयज्ञः' इति श्रुत्युक्तपञ्चमहायज्ञाननुष्ठाय तच्छेषान्नभोजिनो भूत्वा सर्वकिल्बिषैः 'कण्डनी पेषणी चुल्ली चोदकुम्भी च मार्जनी । पञ्च सूना गृहस्थस्य पञ्चयज्ञात् प्रणश्यति' इति स्मृत्युक्तानि यानि बुद्धिपूर्वकं पाणिपादपातोत्पन्नानि यान्यवशेन प्राप्तानि तैरेतैः सर्वैः किल्बिषैर्मुच्यन्ते । तेषां मोकाच्चित्तशुद्धिस्तया ज्ञानं मुक्तिं च विन्दन्तीत्यर्थः । पञ्चमहायज्ञानकुर्वाणाः पापा ये ब्राह्मणा आत्मकारणात् स्वोदरपूर्तिहेतोरेव पचन्ति शूद्रवन्न देवार्थं वैश्वदेवार्थं पचन्ति देवेभ्यः पितृभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्चाऽदत्त्वा स्वयमेव भुञ्जते च ते तु पापमेवाऽन्न-

---

जो लोग पाँच महायज्ञ करके बचे हुए अन्नका भोजन करते हैं, वे सब पापोंसे छूट जाते हैं और जो लोग देवता, अतिथि आदिके उद्देशसे नहीं, किन्तु अपने ही उद्देशसे पकाते हैं, वे पापका भोजन करनेवाले ही होते हैं, इस प्रकार पाँच यज्ञ करनेवाले और न करनेवाले दोनोंके फलका प्रतिपादन करते हैं, जिससे कि पाँच महायज्ञोंको प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए, यह दृढ़ हो जाय—'यज्ञशिष्टा०' इत्यादिसे ।

ब्राह्मण यज्ञशिष्टाशी होकर याने 'देवयज्ञ पितृयज्ञ' इत्यर्थक श्रुतिमें कहे गये पांच महायज्ञोंका अनुष्ठान कर उनसे अवशिष्ट हुए अन्नके भोजी होकर सब पापोंसे छूट जाते हैं । 'ओखली, चक्की, चूल्हा, जलकुम्भी और बुहारी ये पांच गृहस्थकी हत्यायें पांच महायज्ञोंके करनेसे नष्ट हो जाती हैं', इत्यर्थक स्मृतिमें कहे गये जो बुद्धिपूर्वक पाप होते हैं तथा जो हाथ पैर आदिके चलानेसे उत्पन्न होते हैं और जो परवश होनेसे प्राप्त होते हैं, उन सब पापोंसे छूट जाते हैं । उनके छूट जानेसे चित्तकी शुद्धि और उससे ज्ञान और मुक्तिकी प्राप्ति करते हैं, यह अर्थ है। पांच [illegible]यज्ञोंको न करनेवाले जो पापी ब्राह्मण अपने लिए—अपने उदरकी पूर्तिके लिए—ही शूद्रके नि[illegible] [illegible]पकाते हैं, देवताओंके लिए और वैश्वदेवके लिए नहीं पकाते—देवता, पितृ और ब्राह्मणोंको [illegible] नहीं [illegible] हैं—वे पापरूप अन्नका भोजन करते हैं, अन्नका नहीं । उनकी दृष्टिसे

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥

श्रोत्रिय ब्राह्मण द्वारा शास्त्रानुसार विहित यज्ञसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे धान, यव आदि अन्नोंकी उत्पत्ति होती है, [स्त्री-पुरुषों द्वारा] उपभुक्त अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं एवं वृष्टि द्वारा जगत्की उत्पत्तिमें मुख्य कारणभूत यज्ञ वैदिक क्रियासे उत्पन्न होता है॥ १४॥

रूपेण स्थितं भुञ्जते, न त्वन्नम्। स्वदृष्ट्या तदन्नमिव भाति, शास्त्रदृष्ट्या देवतादृष्ट्या च पापमेव भवति त एव पापिष्ठतमा इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः', 'केवलाघो भवति केवलादी' इति। 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी बभूव' इति न्यायेन मुमुक्षुणा श्रोत्रियेण क्रियमाणं कर्म सत्त्वशुद्धिद्वारा स्वस्य मोक्षहेतुर्भवति वृष्ट्यादिद्वारा जगत्स्थितिहेतुश्च भवत्यत उभयथाऽपि कर्म कर्तव्यमेव॥ १३॥

'मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः' इति 'नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' इति कर्मणो मोक्षहेतुत्वं प्रतिपादितम्, जगत्स्थितिहेतुत्वमिदानीं निरूप्यते—अन्नादिति त्रयेण।

'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' इति स्मृत्युक्तप्रक्रियया यज्ञाच्छ्रोत्रियेण यथाशास्त्रं निर्वर्तितात् पर्जन्यो वृष्टिर्भवति। पर्जन्याद् व्रीहियवादिरूपस्याऽन्नस्य संभव उत्पत्तिर्भवति। अन्नात् स्त्रीपुंसाभ्यां भुक्ताच्छुक्रशोणितरूपेण परिणताद्भूतानि प्राणिनो भवन्ति जायन्ते। जातान्यन्नेनैव

वह अन्नके समान भासता है, शास्त्रदृष्टिसे और देवतादृष्टिसे तो वह पाप ही होता है, वे लोग पापिष्ठतम हैं, यह अर्थ है। जैसी कि श्रुति भी है—'यज्ञ न करनेवाले व्यर्थ ही अन्न खाते हैं', 'अकेला खानेवाला केवल पापी होता है'। 'एक क्रिया दो अर्थ करनेवाली होती' इस न्यायसे श्रोत्रिय मुमुक्षु द्वारा किया गया कर्म अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा अपने मोक्षका हेतु होता है और वृष्टि आदि द्वारा जगत्की स्थितिका हेतु होता है, इसलिए दोनों प्रकारसे कर्म कर्तव्य ही है॥ १३॥

'सब पापोंसे छूट जाते हैं' इस वाक्यसे और 'पुरुष नैष्कर्म्य प्राप्त करता है' इस वाक्यसे कर्म मोक्षका हेतु है, ऐसा प्रतिपादन किया, अब जगत्की स्थितिका हेतु कर्म है, ऐसा निरूपण करते हैं—'अन्नात्' इत्यादि तीन श्लोकोंसे।

भली भाँति दी गई आहुति आदित्यको प्राप्त होती है। आदित्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजा।' इत्यर्थक स्मृतिमें प्रतिपादित रीतिसे यज्ञसे—श्रोत्रिय ब्राह्मण द्वारा यथाशास्त्र किये गये यज्ञसे—पर्जन्य यानी वृष्टि होती है। पर्जन्यसे व्रीहि, यव आदि अन्नकी उत्पत्ति [illegible] है। अन्नसे—स्त्री और पुरुष द्वारा उपभुक्त रजवीर्यमें परिणत अन्नसे—भूत (प्राणी) उत्प[illegible] जन्मते हैं। उत्पन्न हुए वे अन्नसे ही जीते भी हैं। इस प्रकार वृष्टि [illegible]

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

यह तुम निश्चय जानो कि यज्ञमें हेतुभूत कर्मकी उत्पत्ति वेदसे हुई है और वेद परम ब्रह्म परमात्मासे हुआ है, इसलिए सभी वस्तुओंमें प्रकाशकत्वरूपसे अवस्थित वेद अश्वमेधान्त सम्पूर्ण कर्मोंमें स्थित है अर्थात् उन कर्मोंका वेद ही कर्तव्यरूपसे विधान करता है ॥ १५ ॥

जीवन्ति च । एवं वृष्ट्यन्नद्वारा जगज्जीवनहेतुर्यो यज्ञः स तु कर्मसमुद्भवः ऋत्विग्यजमानादिभिः क्रियमाणहोममन्त्रतन्त्रादिक्रिया वैदिकी कर्मेत्युच्यते । तस्मात् सम्यगुद्भवो यस्य स कर्मसमुद्भवोऽपूर्वलक्षणो यज्ञः ॥ १४ ॥

कर्मेति । यज्ञकारणभूतं यत्कर्म तत्तु ब्रह्मोद्भवं ब्रह्म वेद ऋगादिस्तस्मादुत्पन्नं विद्धि । तच्च ब्रह्माक्षरसमुद्भवं विद्धि । 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः' इति श्रवणात्सर्वजगत्कारणभूतादक्षरात्परमात्मनः सकाशान्निःश्वासरूपेण स्वयमेवाऽऽविर्भूतमत एव नित्यमपौरुषेयं ब्रह्म वेदं विजानीहीत्यर्थः । यस्माद्यज्ञैकमूलाज्जगदुत्पत्तिः स्थितिश्च तस्मात् स्वयं सर्वगतं सर्वार्थप्रकाशकत्वेन सर्वलोकस्थानां तत्तद्धर्मनियतिस्थापकत्वेन च सर्वत्र स्थितमपि ब्रह्म वेदो यज्ञे ब्राह्मणादिभिरनुष्ठेये औपासनाद्यश्वमेधान्ते कर्मण्येव तद्विधानैकप्रयोजनत्वात्प्रतिष्ठितं नित्यं नियमेन स्थितं भवति । वर्णाश्रमिणां कर्तव्यत्वेन कर्माणि वेद एव विदधातीत्यर्थः ॥ १५ ॥

जीवनका हेतु है, वह कर्मसे उत्पन्न हुआ है । ऋत्विक्, यजमान आदि द्वारा की गई होम, मन्त्र, तन्त्र आदि वैदिकी क्रिया कर्म कहलाती है । उससे जिसका सम्यक् उद्भव है, वह कर्मसमुद्भव कहलाता है, अतः यज्ञका अपूर्व लक्षण है ॥ १४ ॥

'कर्म' इत्यादि । यज्ञका कारणभूत जो कर्म है, वह ब्रह्मोद्भव है । ऋगादि वेदोंका नाम ब्रह्म है, कर्म उससे उत्पन्न हुआ है, ऐसा जानो । और वह ब्रह्म (वेद) अक्षरसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा जानो, क्योंकि 'उस महानका यह ऋग्वेद, यजुर्वेद श्वास है, ऐसी श्रुति है, इसलिए सब जगत्के कारणभूत अक्षर परमात्माके निःश्वासरूपसे स्वयं ही आविर्भूत हुआ है । इसीलिए ब्रह्मको—वेदको—नित्य और अपौरुषेय जानो, ऐसा अर्थ है । जिस कारणसे जगत्की उत्पत्ति और स्थितिका मूल एक यज्ञ ही है, इसलिए स्वयं, सर्वगत—सब अर्थोंके प्रकाशकरूपसे सम्पूर्ण लोकमें तत्-तत् धर्मकी नियतिके स्थापकरूपसे सर्वत्र स्थित—भी ब्रह्म—वेद—यज्ञमें स्थित है—[illegible] आदिकोंसे अनुष्ठान करने योग्य औपासनसे लेकर अश्वमेध तक कर्ममें केवल उनके नि[illegible] लिए प्रतिष्ठित है—नियमसे स्थित है, वर्ण और आश्रमवालोंके कर्मोंका वेद ही विधान [illegible] नहीं [illegible] है ॥ १५ ॥

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके सिद्धान्तके अविरोधी लेखों एवं उत्तमोत्तम संस्कृत-ग्रन्थोंके भाषानुवाद द्वारा जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारतके लिए ६) रु० और विदेशके लिए ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ॥) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डर द्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मँगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिए।

(५) उत्तरके लिए जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिए।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिए।

व्यवस्थापक
अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,
ललिताघाट, बनारस।

Regd. No. A. 2426

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

[illegible] व्यवस्थापक, अच्युतग्रन्थमालाकार्यालय, काशी ।
[illegible] सोमण, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी ।